□ देवेन्द्र मुनि, शास्त्री साहित्यरत्न
[प्रबुद्ध चिंतक, अनेक विशिष्ट ग्रन्थों के लेखक]

ज्ञानवाद : एक परिशीलन

□

ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध दण्ड और दण्डी के सम्बन्ध से भिन्न है। दण्ड और दण्डी का सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध है। दो पृथक् सिद्ध पदार्थों में ही संयोग-सम्बन्ध हो सकता है। आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इन दोनों का अस्तित्व पृथक् सिद्ध नहीं है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। स्वाभाविक गुण वह कहलाता है जो अपने आश्रयभूत द्रव्य का त्याग नहीं करता। ज्ञान के अभाव में आत्मा की कल्पना नहीं की जा सकती। न्याय और वैशेषिक दर्शन ज्ञान को आगन्तुक गुण मानते हैं, मौलिक नहीं, किन्तु जैनदर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है कि ज्ञान आत्मा का मौलिक गुण है। कितने ही स्थलों पर तो आत्मा के अन्य गुणों को गौण कर ज्ञान और आत्मा को एक कह दिया गया है। व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा में भेद माना गया है पर निश्चयनय की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है। ज्ञान और आत्मा में तादात्म्य-सम्बन्ध है। ज्ञान आत्मा का निजगुण है, जो निजगुण होता है वह किसी भी समय अपने गुणी द्रव्य से अलग नहीं हो सकता। ज्ञान से आत्मा को भिन्न नहीं किया जा सकता, आत्मा ही ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है।

ज्ञान स्वभावतः स्वपर-प्रकाशक है। वह अन्य वस्तु को जानने के साथ-साथ स्वयं को भी प्रकाशित करता है। ज्ञान अपने आपको कैसे जान सकता है? ज्ञान स्वयं को स्वयं से जानता है, यह बात शीघ्र समझ में नहीं आती। कोई भी चतुर नट अपने खुद के कन्धों पर चढ़ नहीं सकता, अग्नि स्वयं को नहीं जला सकती, वह दूसरे पदार्थों को ही जलाती है। वैसे ही ज्ञान अन्य को तो जान सकता है किन्तु स्वयं को किस प्रकार जान सकता है?

जैनदर्शन का कथन है कि जिस प्रकार दीपक अपने आपको प्रकाशित करता हुआ पर-पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान अपने आपको जानता हुआ परपदार्थों को जानता है। दीपक को देखने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं रहती है, वैसे ही ज्ञान को जानने के लिए अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान दीपक के समान स्व और पर का प्रकाशक माना गया है। सारांश यह है कि आत्मा का स्वरूप समझने के लिए ज्ञान का स्वरूप समझना अनिवार्य, आवश्यक है।

आगमसाहित्य में अभेददृष्टि से जब कथन किया है तब कहा कि जो ज्ञान है वह आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और आत्मा है वह ज्ञान है।[1] भेददृष्टि से कथन करते हुए कहा—ज्ञान आत्मा का गुण है। भेदाभेद की दृष्टि से चिन्तन करने पर आत्मा ज्ञान से सर्वथा भिन्न भी नहीं है, अभिन्न भी नहीं है किंतु कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है।[2] ज्ञान आत्मा ही है इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है। ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है, इस प्रकार गुण और गुणी के रूप में ये भिन्न भी है।

ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है ?

ज्ञेय और ज्ञान दोनों स्वतन्त्र हैं। द्रव्य, गुण और पर्याय ये ज्ञेय हैं। ज्ञान आत्मा का गुण है। न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय उत्पन्न होता है। हमारा ज्ञान जाने या न जाने तथापि पदार्थ अपने रूप में अवस्थित है। हमारे ज्ञान की ही यदि वे उपज हों तो उनकी असत्ता में उन्हें जानने का हमारा प्रयास ही क्यों होगा ? अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते।

पदार्थ ज्ञान के विषय हों या न हों तथापि हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित है। हमारा ज्ञान यदि पदार्थ की ही उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा, उसके साथ हमारा तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकेगा।

तात्पर्य यह है कि जब हम पदार्थ को जानते हैं तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता किन्तु उस समय उसका प्रयोग होता है। जानने की क्षमता हमारे में रहती है, तथापि ज्ञान की आवृतदशा में हम पदार्थ को बिना माध्यम से जान नहीं सकते। हमारे शरीर, इन्द्रिय और मन चेतनायुक्त नहीं हैं, जब इनसे पदार्थ का सम्बन्ध होता है या सामीप्य होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं और हम ज्ञेय को जान लेते हैं। या हमारे संस्कार किसी पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को उत्प्रेरित करते हैं तब वे जानते हैं। यह ज्ञान की प्रवृत्ति है, उत्पत्ति नहीं। विषय के सामने आने पर उसे ग्रहण कर लेना प्रवृत्ति है। जिसमें जितनी ज्ञान की क्षमता होगी, वह उतना ही जानने में सफल हो सकेगा।

इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही हमारा ज्ञान ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियों की शक्ति सीमित है, वे मन के साथ अपने-अपने विषयों को स्थापित कर ही जान सकती हैं। मन का सम्बन्ध एक समय में एक इन्द्रिय से ही होता है। एतदर्थ एक काल में एक पदार्थ की एक ही पर्याय जानी जा सकती है। अतः ज्ञान को ज्ञेयाकार मानने की आवश्यकता नहीं। यह सीमा आवृत ज्ञान के लिए है। अनावृत ज्ञान के लिए नहीं। अनावृत ज्ञान में तो एक साथ सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।

ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञान और ज्ञेय का विषय-विषयीभाव सम्बन्ध है। प्रमाता ज्ञान स्वभाव है इसलिए वह विषयी है। अर्थ ज्ञेय-स्वभाव है इसलिए वह विषय है। दोनों स्वतन्त्र हैं तथापि ज्ञान में अर्थ को जानने की और अर्थ में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की क्षमता है। यही दोनों के कथंचित् अभेद का कारण है।

---

१ (क) जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। —आचारांग ५।५।१६६
(ख) समयसार गाथा ७
(ग) णाणे पुण णियमं आया—भगवती १२।१०

२ ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेतिकीर्तितः॥
—स्वरूपसम्बोधन—४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानना, देखना और अनुभूति करना ये चैतन्य के तीन मुख्य रूप हैं। आँख के द्वारा देखा जाता है। स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत तथा मन के द्वारा जाना जाता है।

आगमिक दृष्टि से जिस प्रकार चक्षु का दर्शन होता है उसी प्रकार अचक्षु—मन और चक्षु के अतिरिक्त चार इन्द्रियों का भी दर्शन होता है। अवधि और केवल का भी दर्शन होता है।

यहाँ पर दर्शन का अर्थ देखना नहीं किन्तु एकता या अभेद का सामान्यज्ञान, दर्शन है। अनेकता या भेद को जानना ज्ञान है। ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ये पांच प्रकार हैं और दर्शन के चार। मनःपर्याय ज्ञान भेद को ही जानता है इसलिए उसका दर्शन नहीं होता है।

गुण और पर्याय की दृष्टि से विश्व विभक्त है और द्रव्यगत एकता की दृष्टि से अविभक्त है। इसलिए विश्व को सर्वथा विभक्त और न सर्वथा अविभक्त कह सकते हैं। आवृत ज्ञान की क्षमता न्यून होती है। एतदर्थ प्रथम उसके द्वारा द्रव्य का सामान्य रूप जाना जाता है। उसके पश्चात् नाना प्रकार के परिवर्तन और क्षमता जानी जाती है।

ज्ञान और वेदनानुभूति

पांच इन्द्रियों में से स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ भोगी हैं। इन इन्द्रियों से विषय का ज्ञान और अनुभूति दोनों होती हैं। चक्षु और श्रोत्र ये दो कामी हैं, इन इन्द्रियों से केवल विषय जाना जाता है पर उसकी अनुभूति नहीं होती।[3]

इन्द्रियों से हम बाह्य वस्तुओं को जानते हैं किंतु जानने की प्रक्रिया समान नहीं है। अन्य इन्द्रियों से चक्षु की ज्ञानशक्ति अधिक तीव्र है एतदर्थ वह अस्पष्ट रूप को जान लेती है।

चक्षु की अपेक्षा श्रोत्र की ज्ञानशक्ति न्यून है क्योंकि वह स्पष्ट शब्दों को ही जान पाता है। स्पर्शन, रसन और घ्राण इनकी क्षमता श्रोत्र से भी न्यून है। बिना बद्ध-स्पष्ट हुए ये अपने विषय को नहीं जान पाते।

स्पर्शन, रसन और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ अपने विषय के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित करती हैं इसलिए उन्हें ज्ञान के साथ अनुभूति भी होती है। किंतु चक्षु और श्रोत्र में इन्द्रिय और विषय का निकटतम सम्बन्ध स्थापित नहीं होता इसलिए उनमें ज्ञान होता है अनुभूति नहीं होती।

मन से भी अनुभूति होती है किंतु वह बाह्य विषयों के गाढ़तम सम्पर्क से नहीं होती। किंतु वह अनुभूति होती है विषय के अनुरूप मन का परिणमन होने से।

वेदना के दो रूप : सुख और दुःख

बाह्य जगत का परिज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा होता है और उसका संवर्धन मन से होता है। स्पर्श, रस, गंध और रूप ये पदार्थ के मौलिक गुण हैं और शब्द उसकी पर्याय है। इन्द्रियाँ अपने विषय को ग्रहण करती हैं और मन से उसका विस्तार होता है। बाह्य वस्तुओं के संयोग और वियोग से सुख और दुःख की अनुभूति होती है, किंतु उसे शुद्ध ज्ञान नहीं कह सकते। उसकी अनुभूति अचेतन को नहीं होती, अतः वह अज्ञान भी नहीं है। ज्ञान और बाह्य पदार्थ के संयोग से वेदना का अनुभव होता है।

शारीरिक सुख और दुःख की अनुभूति इन्द्रिय और मन के माध्यम से होती है। अमनस्क जीवों को मुख्यतः शारीरिक वेदना होती है और समनस्क जीवों को शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की वेदनाएँ होती हैं। सुख और दुःख ये दोनों वेदनाएँ एक साथ नहीं होतीं।

---

३ पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूपं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं रसं च फासं, बद्ध-पुट्ठं वियागरे॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्म-रमण चैतन्य की विशुद्ध परिणति है। वह आत्मसुख वेदना नहीं है। उसे स्वसंवेदन, आत्मानुभूति या स्वरूप-संवेदन कहा जाता है।

आगमों में ज्ञानवाद

आगमसाहित्य में ज्ञान-सम्बन्धी जो मान्यताएँ प्राप्त होती हैं, वे अत्यधिक प्राचीन हैं। राजप्रश्नीय सूत्र में केशीकुमार श्रमण राजा प्रदेशी को कहते हैं कि हम श्रमण निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के ज्ञान मानते हैं—१. आभिनिबोधिकज्ञान, २. श्रुतज्ञान, ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्यवज्ञान, ५. केवलज्ञान।[४]

केशीकुमार श्रमण भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण थे। उन्होंने जिन पांच ज्ञानों का निरूपण किया, उन्हीं पांच ज्ञानों का वर्णन भगवान महावीर ने भी किया है।[५]

उत्तराध्ययन में केशी और गौतम का संवाद है।[६] उससे स्पष्ट है कि भगवान पार्श्व और महावीर के शासन में आचार विषयक कुछ मतभेद थे किंतु तत्वज्ञान में कुछ भी मतभेद नहीं था। यदि तत्वज्ञान में मतभेद होता तो उसका उल्लेख प्रस्तुत संवाद में अवश्य होता। पंचज्ञान की मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्रायः एक समान है। केवलज्ञान, केवल-दर्शन के उपयोग के विषय में कुछ मतभेद है, अन्य सभी समान है।

विकास-क्रम की दृष्टि से आगमों के आधार से ज्ञानचर्चा की तीन भूमिकाएँ प्राप्त होती हैं।[७]

प्रथम भूमिका में ज्ञान के जो पाँच भेद किये गये हैं, उनमें आभिनिबोधिक के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भेद किये हैं। वह विभाग इस प्रकार है—[८]

ज्ञान
- आभिनिबोधिक
  - अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा
- श्रुत
- अवधि
- मनःपर्यव
- केवल

अवग्रह आदि के भेद-प्रभेद अन्य स्थानों के समान यहाँ पर भी बताये गये हैं।

दूसरी भूमिका में ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद किये गये हैं। उसके पश्चात् प्रत्यक्ष और परोक्ष के भी भेद-प्रभेद किये गये हैं। इसमें पांच ज्ञानों में से मति और श्रुत को परोक्षान्तर्गत, अवधि, मनःपर्यव और केवल को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत लिया गया है। इसमें इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष को स्थान नहीं दिया गया है। जैनदृष्टि से जो ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष हैं उन्हें ही प्रत्यक्ष माना है और जो ज्ञान आत्मा के अतिरिक्त अन्य साधनों की अपेक्षा रखते हैं, उन्हें परोक्ष माना है।

---

४ राजप्रश्नीय सूत्र—१६५।
५ भगवती ८।२।३१७।
६ उत्तराध्ययन अध्ययन २३।
७ आगम युग का जैनदर्शन—पं० दलसुख मालवणिया, पृ० १२९।
८ भगवती सूत्र ८।२, ३१७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनेतर सभी दार्शनिकों ने नोइन्द्रिय-जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। परन्तु उसे यहाँ पर प्रत्यक्ष नहीं माना है। यह योजना स्थानांगसूत्र में है।[६]

भगवती सूत्र की प्रथम योजना में और इस योजना में मुख्य अन्तर यह है कि यहाँ पर ज्ञान के मुख्य दो भेद किये हैं, पांच नहीं। पांच ज्ञानों को प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदों के प्रभेद के रूप में गिना है। इस प्रकार स्पष्ट परिज्ञान होता है कि यह प्राथमिक भूमिका का विकास है। जो इस प्रकार है—

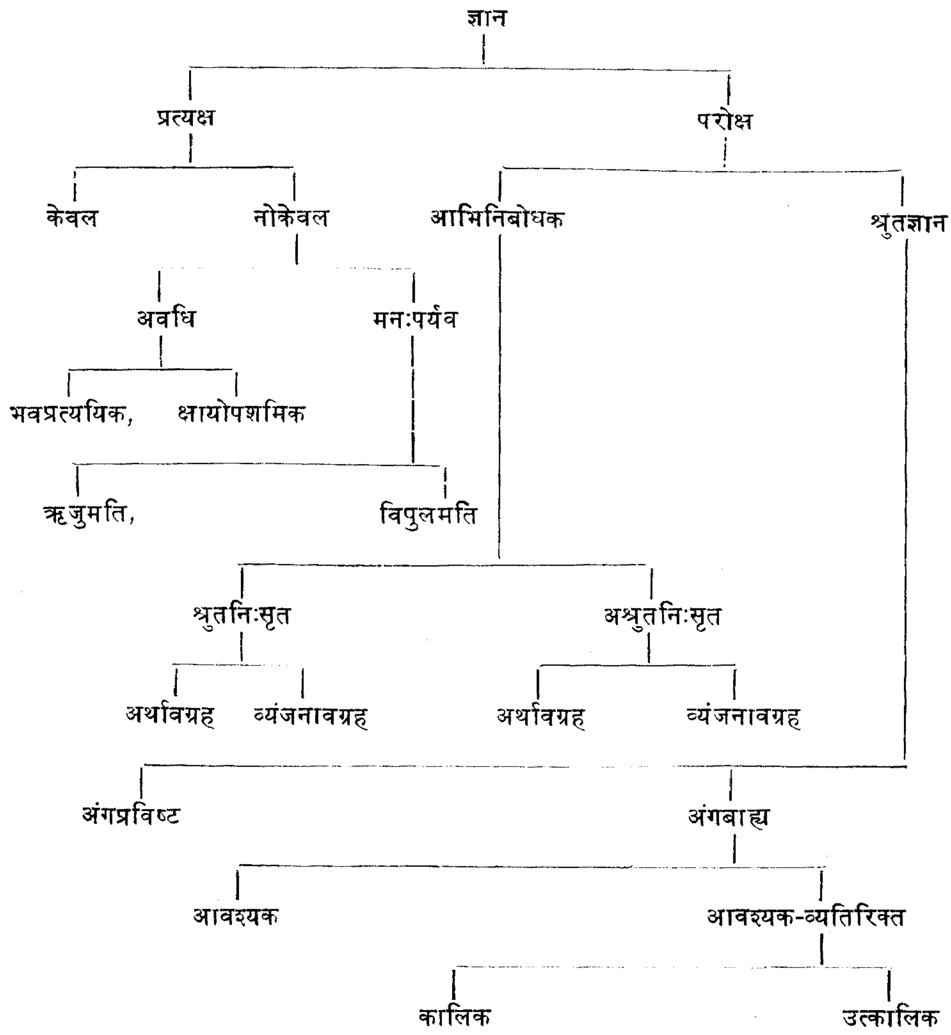

द्वितीय भूमिका में इन्द्रियजन्य मतिज्ञान का परोक्ष के अन्तर्गत समावेश किया है। तृतीय भूमिका में और भी कुछ परिवर्तन आया है। इन्द्रियजन्य मतिज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद

---

६ स्थानाङ्गसूत्र ७१

आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किये गये हैं। सम्भवतः लौकिक मान्यता के कारण ही इस प्रकार किया गया हो। नन्दीसूत्र के अभिमतानुसार इस भूमिका का सार इस प्रकार है—

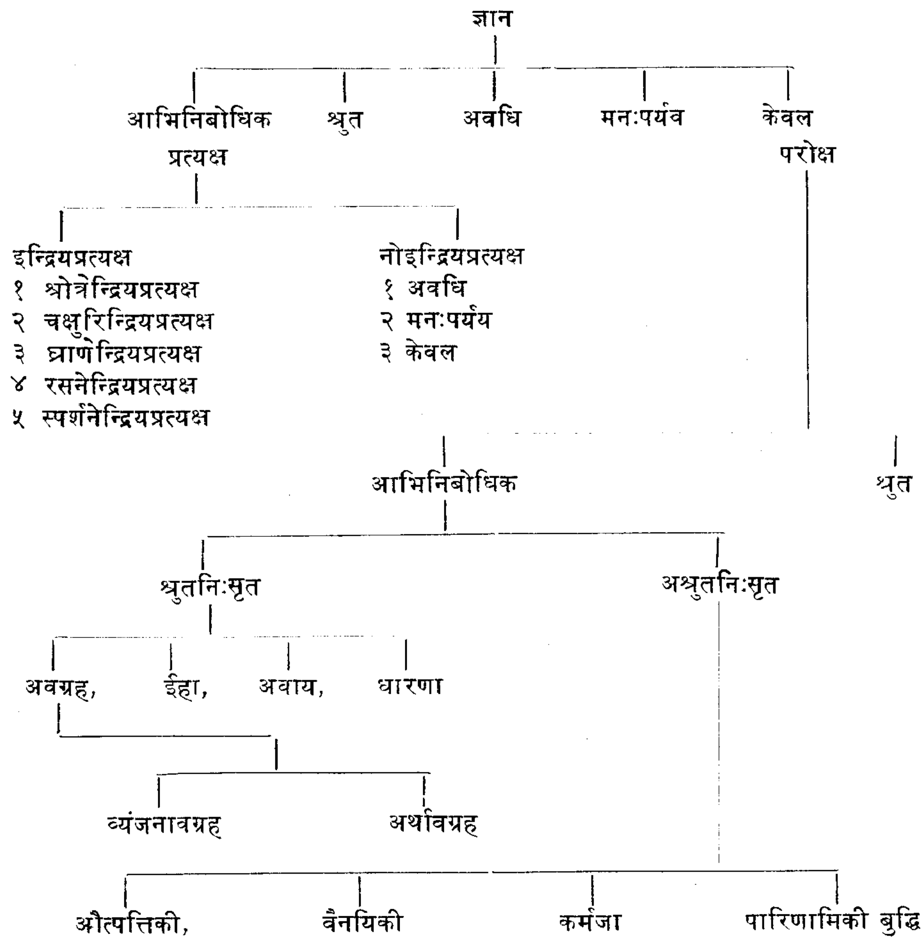

उपर्युक्त तीनों भूमिकाओं का अवलोकन करने से सहज ही परिज्ञात होता है कि प्रथम भूमिका में दार्शनिक पुट नहीं है। इस भूमिका में प्राचीन परम्परा का स्पष्ट निदर्शन है। इसमें पहले ज्ञान के पांच विभाग किये गये हैं। उसमें मतिज्ञान के अवग्रह आदि भेद किये गये हैं। भगवतीसूत्र में भी इस परिपाटी का दर्शन होता है।

द्वितीय भूमिका में शुद्ध जैनदृष्टि के साथ दार्शनिक प्रभाव भी है। इसमें ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये विभाग किये हैं। बाद में जैन तार्किकों ने इस विभाग को अपनाया है। इस विभाग के पीछे वैशद्य और अवैशद्य की भूमिका है, वैशद्य का आधार आत्मप्रत्यक्ष है, और अवैशद्य का आधार इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञान है।

जैनदर्शन ने प्रत्यक्ष और परोक्ष सम्बन्धी व्याख्या इसी दृष्टि से की है। अन्य दार्शनिकों की प्रत्यक्ष विषयक मान्यता और जैनदर्शन की प्रत्यक्ष विषयक मान्यता में मुख्य अन्तर यह है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन आत्म-प्रत्यक्ष को ही मुख्य रूप से प्रत्यक्ष मानता है जबकि अन्य दार्शनिक इन्द्रियजन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानते हैं। प्रत्यक्ष के अवधि, मनःपर्यव, केवल ये तीन भेद हैं।

क्षेत्र, विशुद्धि आदि की दृष्टि से उनमें तारतम्य है। केवलज्ञान सबसे विशुद्ध और पूर्ण है। आभिनिबोधिक ज्ञान और श्रुतज्ञान ये परोक्ष हैं। आभिनिबोधिक ज्ञान का ही अपर नाम मतिज्ञान भी है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन दोनों से होता है। श्रुतज्ञान का आधार मन है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव आदि अनेक अवान्तर भेद हैं।

तीसरी भूमिका में जैनदृष्टि के साथ ही इतर दृष्टि का भी पुट है। प्रत्यक्ष के इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और नोइन्द्रिय-प्रत्यक्ष ये दो भेद किये हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है। वस्तुतः वह इन्द्रियाश्रित होने से परोक्ष ही है किन्तु उसे प्रत्यक्ष में स्थान देकर लौकिक मत का समन्वय किया है। विशेषावश्यक भाष्य में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि वस्तुतः इन्द्रियज प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहना चाहिए अर्थात् लोकव्यवहार की दृष्टि से ही इन्द्रियज मति को प्रत्यक्ष कहा है, वस्तुतः वह परोक्ष ही है। परमार्थतः प्रत्यक्ष कोटि में आत्ममात्र सापेक्ष अवधि, मनःपर्यय और केवल तीन हैं। प्रत्यक्ष-परोक्षत्व व्यवहार इस भूमिका में इस प्रकार मान्य होता है—

१—अवधि, मनःपर्याय और केवल पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं।

२—श्रुत परोक्ष ही है।

३—इन्द्रियजन्य मतिज्ञान पारमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है और व्यावहारिक दृष्टि से प्रत्यक्ष है।

४—मनोजन्य मतिज्ञान परोक्ष ही है।

आचार्य अकलंक ने और अन्य आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक। यह उनकी स्वयं की कल्पना नहीं है किन्तु उनकी कल्पना का मूल आधार नन्दीसूत्र और विशेषावश्यक भाष्य में रहा हुआ है।[१०]

आभिनिबोधिक ज्ञान के अवग्रह आदि भेदों पर बाद के दार्शनिक आचार्यों ने विस्तार से विवेचन किया है। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि की इन तार्किकों ने जो दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या की है, वैसी ही व्याख्या आगम साहित्य में नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि आगम-युग में इस सम्बन्ध को लेकर कोई संघर्ष नहीं था किंतु उसके पश्चात् अन्य दार्शनिकों से जैन दार्शनिकों को अत्यधिक संघर्ष करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप नवीन ढंग के तर्क सामने आये। उन्होंने इस पर दार्शनिक दृष्टि से गम्भीर चिंतन किया। हम यहाँ आगम व दार्शनिक ग्रंथों के विमल प्रकाश में पाँच ज्ञानों पर चिंतन करेंगे, उसके पश्चात् स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान आदि पर प्रमाण की दृष्टि से विचार किया जायेगा।

मतिज्ञान

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है, वह मतिज्ञान है। अर्थात् जिस ज्ञान में इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा रहती है उसे मतिज्ञान कहा गया है।[११] आगम साहित्य

---

१० एगन्तेण परोक्खं लिंगियमोहाइयं च पच्चक्खं।
इन्दियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं॥
—विशेषावश्यक भाष्य ९५ और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति।

११ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।
—तत्त्वार्थसूत्र १।१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में मतिज्ञान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहा है। तत्त्वार्थसूत्र (अ० १, सूत्र १३) में मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, आभिनिबोध को एकार्थक कहा है। विशेषावश्यक भाष्य (३९६) में ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति, प्रज्ञा आदि शब्दों का प्रयोग किया है। नन्दीसूत्र में इन्हीं शब्दों का प्रयोग हुआ है।[१२] तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में इन्द्रियजन्य ज्ञान और मनोजन्य ज्ञान ये दो भेद बताये हैं।[१३] सिद्धसेनगणी ने इंद्रियजन्य, अनिन्द्रियजन्य (मनोजन्य) और इन्द्रियानिन्द्रिय-जन्य ये तीन भेद किये हैं। जो ज्ञान केवल इंद्रियों से उत्पन्न होता है, वह इंद्रियजन्य है। जो ज्ञान केवल मन से उत्पन्न होता है, वह अनिन्द्रियजन्य ज्ञान है। जो ज्ञान इंद्रिय और मन इन दोनों के संयुक्त प्रयत्न से होता है, वह इंद्रियानिन्द्रियजन्य ज्ञान है।[१४]

मतिज्ञान इंद्रिय और मन से होता है। इसलिए प्रश्न है कि इंद्रिय और मन क्या हैं?

इन्द्रिय

प्राणी और अप्राणी में स्पष्ट भेदरेखा खींचने वाला चिह्न है—इंद्रिय। पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में व अन्य आचार्यों ने इंद्रिय शब्द की परिभाषा करते हुए लिखा है कि इंद्र शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है "इंदतीति इंद्रः" अर्थात् जो आज्ञा और ऐश्वर्य वाला है वह इंद्र है। यहाँ इंद्र शब्द का अर्थ—आत्मा है। वह यद्यपि ज्ञस्वभाव है, तथापि मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम के रहते हुए भी स्वयं पदार्थों को जानने में असमर्थ है। अतः उसको जानने में जो निमित्त होता है, वह इन्द्र का चिह्न इंद्रिय है। अथवा जो गूढ़ पदार्थ का ज्ञान कराता है, उसे लिंग कहते हैं। इसके अनुसार इंद्रिय शब्द का अर्थ हुआ कि जो सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में कारण है उसे इंद्रिय कहते हैं। अथवा इंद्र शब्द नामकर्म का वाची है। अतः यह अर्थ हुआ कि नामकर्म की रचना-विशेष इंद्रिय है। सारांश यह है कि आत्मा की स्वाभाविक शक्ति पर कर्म का आवरण होने से सीधा आत्मा से ज्ञान नहीं हो सकता। इसके लिए किसी माध्यम की आवश्यकता रहती है, वह माध्यम इंद्रिय है। जिसकी सहायता से ज्ञानलाभ हो सके वह इंद्रिय है। इंद्रियां पांच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। इनके विषय भी पांच हैं—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द। इसीलिए इंद्रिय को प्रतिनियत अर्थग्राही कहा जाता है। जैसे—

१	स्पर्श—ग्राहक इंद्रिय	स्पर्शन,
२	रस—ग्राहक इंद्रिय	रसन,
३	गंध—ग्राहक इंद्रिय	घ्राण,
४	रूप—ग्राहक इंद्रिय	चक्षु,
५	शब्द—ग्राहक इंद्रिय	श्रोत्र।[१५]

---

१२ ईहा अपोह वीमंसा मग्गणा य गवेसणा।
सण्णा सती मती पण्णा सव्वं आभिणिवोहियं॥

नंदी. ७७, पुण्यविजय जी सम्पादित, पृ० २७

१३ तदेतन्मतिज्ञानं द्विविधं भवति। इंद्रियनिमित्तं अनिन्द्रियनिमित्तं च। तत्रेन्द्रियनिमित्तं स्पर्श-नादीनाञ्च पञ्चानां स्पर्शादिषु पञ्चस्वेवं स्वविषयेषु। अनिन्द्रियनिमित्तं मनोवृत्तिरोघज्ञानं च।
—तत्त्वार्थभाष्य १।१४

१४ तत्त्वार्थसूत्र पर टीका १।१४

१५ प्रमाणमीमांसा १।२।२१।२३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्येक इंद्रिय द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय रूप दो प्रकार की है।[१६] पुद्गल की आकृति-विशेष द्रव्येन्द्रिय है और आत्मा का परिणाम भावेन्द्रिय है। द्रव्येन्द्रिय के भी निर्वृत्ति और उपकरण ये दो भेद हैं।[१७] इंद्रियों की विशेष आकृतियाँ निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय हैं। निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय की बाह्य और आभ्यन्तरिक पौद्गलिक शक्ति जिसके होने पर भी ज्ञान होना सम्भव नहीं है, उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। भावेन्द्रिय भी लब्धि और उपयोग रूप से दो प्रकार की है।[१८] ज्ञानावरणकर्म आदि के क्षयोपशम से प्राप्त होने वाली जो आत्मिक शक्तिविशेष है वह लब्धि है। लब्धि प्राप्त होने पर आत्मा एक विशेष प्रकार का व्यापार करती है। वह व्यापार उपयोग है।

इन्द्रियप्राप्ति का क्रम

सभी प्राणियों में इन्द्रिय-विकास समान नहीं होता है। पांच इन्द्रियों के पांच विकल्प हैं—

१. एकेन्द्रिय प्राणी। २. द्वीद्रिय प्राणी। ३. त्रीद्रिय प्राणी। ४. चतुरिंद्रिय प्राणी। ५. पंचेंद्रिय प्राणी।

जिस प्राणी में जितनी इन्द्रियों की आकार-रचना होती है, वह प्राणी उतनी इन्द्रियवाला कहलाता है। प्रश्न है कि प्राणियों में यह आकार-रचना का वैषम्य क्यों? उत्तर है कि जिस प्राणी के जितनी ज्ञानशक्तियां-लब्धि-इंद्रियां निरावरण-विकसित होती हैं, उस प्राणी के शरीर में उतनी ही इंद्रियों की आकृतियाँ बनती हैं। इससे स्पष्ट है कि इंद्रिय के अधिष्ठान, शक्ति तथा व्यापार का मूल लब्धि इंद्रिय है। उसके अभाव में निर्वृत्ति, उपकरण और उपयोग नहीं होता।

लब्धि के पश्चात् द्वितीय स्थान निर्वृत्ति का है। उसके होने पर उपकरण और उपकरण के होने पर उपयोग होता है।

उपयोग के बिना उपकरण, उपकरण के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना लब्धि हो सकती है परन्तु लब्धि के बिना निर्वृत्ति और निर्वृत्ति के बिना उपकरण तथा उपकरण के बिना उपयोग नहीं हो सकता।

- इन्द्रिय
  - पौद्गलिक (द्रव्येन्द्रिय)
    - निर्वृत्ति
    - उपकरण
  - आत्मिक (भावेन्द्रिय)
    - लब्धि
    - उपयोग

मन

हरएक इंद्रिय का विषय अलग-अलग है। एक इंद्रिय दूसरी इंद्रिय के विषय को ग्रहण नहीं कर सकती। मन एक ऐसी सूक्ष्म इंद्रिय है जो सभी इंद्रियों के विषयों को ग्रहण कर सकता है। एतदर्थ ही इसे सर्वार्थग्राही इंद्रिय कहा है।[१९] मन को अनिन्द्रिय इसीलिए कहा जाता है कि वह अत्यधिक सूक्ष्म है। अनिन्द्रिय का अर्थ इंद्रिय का अभाव नहीं किंतु ईषत् इंद्रिय है, जिस प्रकार किसी लड़की को अनुदरा कहा जाता है, इसका अर्थ बिना उदर वाली लड़की नहीं किंतु वह लड़की जो

---

१६ सर्वार्थसिद्धि

१७ निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं। —तत्त्वार्थसूत्र २।१७

१८ लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्। —तत्त्वार्थसूत्र २।१८

१९ सर्वार्थग्रहणं मनः। —प्रमाणमीमांसा १।२।२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गर्भवती स्त्री के समान स्थूल उदरवाली न हो। उसी तरह चक्षु आदि के समान प्रतिनियत देश, विषय, अवस्थान का अभाव होने से मन अनिन्द्रिय कहा है। 'मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिंतन और भविष्य की कल्पना करता है। इसलिए उसे दीर्घकालिक संज्ञा भी कहा है। जैन आगम साहित्य में "मन" शब्द की अपेक्षा 'संज्ञा' शब्द अधिक व्यवहृत हुआ है। समनस्क प्राणी को संज्ञी कहा गया है। उसका लक्षण इस प्रकार है—१. सत् अर्थ का पर्यालोचन ईहा है। २. निश्चय अपोह है। ३. अन्वयधर्म का अन्वेषण मार्गणा है। ४. व्यतिरेक धर्म का स्वरूपालोचन गवेषणा है। ५. यह कैसे हुआ? किस प्रकार करना चाहिए? यह किस प्रकार होगा? इस तरह का पर्यालोचन चिंता है। ६. यह इसी प्रकार हो सकता है—यह इसी प्रकार हुआ है और इसी प्रकार होगा—इस तरह का निर्णय विमर्श है। वह संज्ञी कहलाता है।[२०]

मन का लक्षण

जिसके द्वारा मनन किया जाता है (**मननं मन्यते अनेन वा मनः**) वह मन है। इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—मूर्त और अमूर्त। इन्द्रियां केवल मूर्त द्रव्य की वर्तमान पर्याय को जानती हैं, मन मूर्त और अमूर्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है।

मन भी इन्द्रिय की तरह पौद्गलिक शक्ति-सापेक्ष है, इसलिए उसके द्रव्यमन और भावमन ये दो भेद बनते हैं।

मनन के आलम्बन-भूत या प्रवर्तक पुद्गल द्रव्य मनोवर्गणा-द्रव्य जब मन के रूप में परिणत होते हैं तब वे द्रव्यमन कहलाते हैं। यह मन आत्मा से भिन्न है और अजीव है।[२१]

विचारात्मक मन भावमन है। मन मात्र ही जीव नहीं है, परन्तु मन जीव भी है। जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है, एतदर्थ इसे आत्मिक मन कहते हैं।[२२] लब्धि और उपयोग उसके ये दो भेद हैं। प्रथम मानसज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार है।

दिगम्बर ग्रन्थ धवला के अनुसार मन स्वतः नोकर्म है। पुद्गलविपाकी अंगोपांग नाम-कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला द्रव्यमन है तथा वीर्यान्तराय और नोइन्द्रिय कर्म के क्षयोपशम से जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, वह भावमन है। अपर्याप्त अवस्था में द्रव्यमन के योग्य द्रव्य की उत्पत्ति के पूर्व उसका सत्त्व मानने से विरोध आता है, इसलिए अपर्याप्त अवस्था में भाव-मन के अस्तित्व का निरूपण नहीं किया है।[२३]

मन का कार्य

चिंतन करना मन का कार्य है। मन इन्द्रिय के द्वारा ग्रहीत वस्तु के सम्बन्ध में भी चिंतन-मनन करता है और उससे आगे भी वह सोचता है।[२४] इन्द्रियज्ञान का प्रवर्तक मन है। सभी स्थानों पर मन को इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। जब वह इन्द्रिय द्वारा ज्ञान रूप

---

२० कालिओवएसेणं जस्स। णं अत्थि ईहा अवोहा मग्गणा गवेसणा चिन्ता बीमंसा सेणं सण्णी त्ति लब्भई॥

२१ भगवतीसूत्र १३।७।४९४

२२ सर्व विषयमन्तःकरणं युगपत् ज्ञानानुत्पत्ति लिङ्गं मनः तदपि द्रव्यमनः पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतम्, भावमनस्तु आत्मगुणत्वात् जीवग्रहणेति।

—सूत्रकृतांग वृत्ति १।१२

२३ धवला, सूत्र ३६, पृ० १३०

२४ चरक सूत्रस्थान १।२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रस आदि का विशेष रूप से निरीक्षण, परीक्षण करता है, तब वह इन्द्रिय-सापेक्ष होता है। इन्द्रिय की गति पदार्थ तक सीमित है किन्तु मन की गति इन्द्रिय और पदार्थ दोनों में है।

मानसिक चिंतन के ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम आदि विविध पहलू हैं।

मन का स्थान

वैशेषिक[२५] नैयायिक[२६] और मीमांसक[२७] मन को परमाणु रूप मानते हैं इसलिए उनके मन्तव्यानुसार मन नित्यकारण रहित है। सांख्यदर्शन, योगदर्शन, और वेदान्तदर्शन उसे अणुरूप और जन्य मानकर उसकी उत्पत्ति प्राकृतिक अहंकार तत्त्व से[२८] या अविद्या से मानते हैं। बौद्ध, जैन दृष्टि से मन न तो व्यापक है और न परमाणु रूप ही है। किन्तु मध्यम परिमाणवाला है।

न्याय-वैशेषिक-बौद्ध आदि कितने ही दर्शन मन को हृदयप्रदेशवर्ती मानते हैं। सांख्य, योग व वेदांत दर्शन के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय नहीं है किन्तु मन सूक्ष्म लिङ्ग शरीर में जो अष्टादश तत्त्वों का विशिष्ट निकाय रूप है, प्रविष्ट है और सूक्ष्म शरीर का स्थान सम्पूर्ण स्थूल शरीर है।[२९] इसलिए मन का स्थान समग्र स्थूल शरीर है। जैनदर्शन के अनुसार भावमन का स्थान आत्मा है किंतु द्रव्यमन के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। दिगम्बर परम्परा द्रव्यमन को हृदय प्रदेशवर्ती मानती है किंतु श्वेताम्बर परम्परा में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है। पं० सुखलाल जी का अभिमत है कि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार द्रव्यमन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है।[३०]

मन का एकमात्र नियत स्थान न भी हो, तथापि उसके सहायक कई विशेष केन्द्र होने चाहिए। मस्तिष्क के संतुलन पर मानसिक चिंतन अत्यधिक निर्भर है, एतदर्थ सामान्य अनुभूति के अतिरिक्त अथवा इन्द्रिय साहचर्य के अतिरिक्त उसके चिंतन का साधनभूत किसी शारीरिक अवयव को मुख्य केन्द्र माना जाय, इसमें आपत्ति प्रतीत नहीं होती।

विषयग्रहण की दृष्टि से इन्द्रियां एकदेशी हैं। अतः वे नियत देशाश्रयी कहलाती हैं किन्तु ज्ञानशक्ति की दृष्टि से इन्द्रियां सर्वात्मव्यापी हैं। इन्द्रिय और मन में क्षायोपशमिक शक्ति आवरण-विलय-जन्य विकास के कारण से है। आवरणविलय सर्वात्मप्रदेशों का होता है।[३१] मन विषय-ग्रहण की दृष्टि से भी शरीरव्यापी है।

मन का अस्तित्व

न्याय सूत्रकार का मन्तव्य है कि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। इस अनुमान से वे मन की सत्ता स्वीकार करते हैं।[३२]

२५ वैशेषिकसूत्र ७।१।२३
२६ न्यायसूत्र ३।२।६१
२७ प्रकरण प० पृ० १५१
२८ माठरकारिका २७
२९ मनो यत्र मरुत तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः।
अतस्तुल्यक्रियावेतौ, संवीतौ क्षीरनीरवत् ॥ —योगशास्त्र ५।२
३० दर्शन और चिंतन, पृ० १४० हिन्दी
३१ सव्वेणं सव्वे निज्जिण्णा ॥ —भगवती १।३
३२ न्यायसूत्र १।१।१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वात्स्यायन भाष्यकार का अभिमत है कि स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता है और विभिन्न इन्द्रिय तथा उसके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नहीं होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप उतर आता है।[३३]

अन्नभट्ट ने सुख आदि की प्रत्यक्ष उपलब्धि को मन का लिङ्ग माना है।[३४]

जैनदर्शन के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ज्ञान, वितर्क, सुख, दुःख, क्षमा, इच्छा आदि अनेक मन के लिङ्ग हैं।[३५]

अब हम अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करेंगे। क्योंकि ये चारों मतिज्ञान के मुख्य भेद हैं।

अवग्रह

इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर नाम आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य मात्र का ज्ञान अवग्रह है।[३६] इस ज्ञान में निश्चित प्रतीति नहीं होती कि किस पदार्थ का ज्ञान हुआ है। केवल इतना-सा ज्ञात होता है कि यह कुछ है। इन्द्रिय और सामान्य का जो सम्बन्ध है वह दर्शन है। दर्शन के पश्चात् उत्पन्न होने वाला सामान्य ज्ञान अवग्रह है। अवग्रह में केवल सत्ता (महासामान्य) का ही ज्ञान नहीं होता है किंतु पदार्थ का प्रारम्भिक ज्ञान (अपर सामान्य का ज्ञान) होता है कि यह कुछ है।[३७]

अवग्रह के व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह ये दो भेद हैं।

अर्थ और इन्द्रिय का संयोग व्यंजनावग्रह है। उपर्युक्त पंक्तियों में जो अवग्रह की परिभाषा दी गई है वह वस्तुतः अर्थावग्रह की है। प्रस्तुत परिभाषा से व्यंजनावग्रह दर्शन की कोटि में आता है। प्रश्न है कि अर्थ और इन्द्रिय का संयोग व्यंजनावग्रह है तब दर्शन कब होगा? समाधान है कि व्यंजनावग्रह से पूर्व दर्शन होता है। व्यंजनावग्रह रूप जो सम्बन्ध है वह ज्ञानकोटि में आता है और उस से भी पहले जो एक सत्ता-सामान्य का भान है, वह दर्शन है।

अर्थावग्रह का पूर्ववर्ती ज्ञानव्यापार, जो इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होने पर उत्पन्न होता है और क्रमशः पुष्ट होता जाता है वह व्यंजनावग्रह कहलाता है। यह ज्ञान अव्यक्त है। व्यंजनावग्रह अर्थावग्रह किस प्रकार बनता है? इसे समझाने के लिए आचार्यों ने एक रूपक दिया है। एक कुम्भकार अवाड़ा में से एक सकोरा निकालता है। वह उस पर पानी की एक-एक बूंद डालता है। पहली, दूसरी, तीसरी बूंद सूख जाती है, अन्त में वही सकोरा पानी की बूंदें सुखाने में असमर्थ हो जाता है और धीरे-धीरे पानी से भर जाता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति सोया है। उसे पुकारा जाता है। कान में जाकर शब्द चुपचाप बैठ जाते हैं, वे अभिव्यक्त नहीं हो पाते, दो-चार बार पुकारने पर उसके कान में अत्यधिक शब्द एकत्र हो जाते हैं तभी उसे यह परिज्ञान होता है कि मुझे कोई पुकार रहा है। यह ज्ञान प्रथम शब्द के समय इतना अस्पष्ट और अव्यक्त होता है कि उसे इस बात का पता ही नहीं लगता कि मुझे कोई पुकार रहा है। जलबिन्दुओं की तरह

---

३३ वात्स्यायन भाष्य १।१।१६

३४ सुखाद्युपलाब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः।

—तर्कसंग्रह

३५ संशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहासुखादिक्षमेच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि।

—सन्मतिप्रकरण टीका काण्ड—२

३६ प्रमाणमीमांसा १।१।२६

३७ सर्वार्थसिद्धि १।१५।१११, ज्ञानपीठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दों का संग्रह जब काफी मात्रा में हो जाता है तब उसे व्यक्त ज्ञान होता है। व्यंजनावग्रह अव्यक्त है और अर्थावग्रह व्यक्त है। प्रथम रूप जो अव्यक्त ज्ञानात्मक है वह व्यंजनावग्रह है। दूसरा रूप जो व्यक्त ज्ञानात्मक है वह अर्थावग्रह है।

चक्षु और मन से व्यंजनावग्रह नहीं होता। क्योंकि ये दोनों अप्राप्यकारी हैं। इन्द्रियां दो प्रकार की हैं—प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। प्राप्यकारी उसे कहा जाता है जिसका पदार्थ के साथ सम्बन्ध हो और जिसका पदार्थ के साथ सम्बन्ध नहीं होता उसे अप्राप्यकारी कहा जाता है। अर्थ और इन्द्रिय का संयोग व्यंजनावग्रह के लिए अपेक्षित है और संयोग के लिए प्राप्यकारित्व अनिवार्य है। चक्षु और मन ये दोनों अप्राप्यकारी हैं अतः इनके साथ अर्थ का संयोग नहीं होता। बिना संयोग के व्यंजनावग्रह संभव नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि मन को अप्राप्यकारी मान सकते हैं पर चक्षु अप्राप्यकारी किस प्रकार है? समाधान है—चक्षु स्पष्ट अर्थ का ग्रहण नहीं करती है इसलिए वह अप्राप्यकारी है। त्वगिन्द्रिय के समान स्पृष्ट अर्थ का ग्रहण करती तो वह भी प्राप्यकारी हो सकती थी। किन्तु वह इस प्रकार अर्थ का ग्रहण नहीं करती अतः अप्राप्यकारी है।

दूसरा प्रश्न हो सकता है—त्वगिन्द्रिय के समान चक्षु भी आवृत वस्तु को ग्रहण नहीं करती इसलिए उसे प्राप्यकारी क्यों न माना जाय?

उत्तर है कि यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु काच, प्लास्टिक, स्फटिक आदि से आवृत अर्थ को ग्रहण करती है। यदि यह कहा जाय कि चक्षु अप्राप्यकारी है तो वह व्यवहित और अतिविप्रकृष्ट अर्थ को भी ग्रहण कर लेगी, यह उचित नहीं है। जैसे चुम्बक अप्राप्यकारी होते हुए भी अपनी सीमा में रहे हुए लोहे को ही आकृष्ट करता है। व्यवहित और अतिविप्रकृष्ट को नहीं।

कहा जा सकता है कि चक्षु का उसके विषय के साथ भले सीधा सम्बन्ध न हो किन्तु चक्षु में से निकलने वाली किरणों का विषयभूत पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है। अतः चक्षु प्राप्यकारी है।

समाधान है कि यह कथन सम्यक् नहीं है। क्योंकि चक्षु तैजस किरणयुक्त नहीं है। यदि चक्षु तैजस होता तो चक्षुरिन्द्रिय का स्थान उष्ण होना चाहिए। सिंह, बिल्ली आदि की आँखों में रात को जो चमक दिखलाई देती है अतः चक्षु रश्मियुक्त है। यह मानना युक्तियुक्त नहीं है। अतैजस द्रव्य में भी चमक देखी जाती है, जैसे मणि व रेडियम आदि में। इसलिए चक्षु प्राप्यकारी नहीं। अप्राप्यकारी होने पर भी तदावरण के क्षयोपशम से वस्तु का ग्रहण होता है। एतदर्थ मन और चक्षु से व्यंजनावग्रह नहीं होता है। शेष चार इन्द्रियों से ही व्यंजनावग्रह होता है।

अर्थावग्रह सामान्य ज्ञान रूप है इसलिए पांच इन्द्रियों और छठे मन से अर्थावग्रह होता है।

अवग्रह के लिए कितने ही पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। नन्दीसूत्र में अवग्रह के लिए अवग्रहणता, उपधारणता, श्रवणता, अवलम्बनता और मेधा शब्द आये हैं।[३८]

तत्त्वार्थभाष्य में—अवग्रह, ग्रह, ग्रहण, आलोचन और अवधारण शब्द का प्रयोग हुआ है। षट्खण्डागम में अवग्रह, अवधान, सान, अवलम्बन और मेधा ये शब्द अवग्रह के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

अवग्रह के दो भेद

अवग्रह के दो भेद हैं—व्यावहारिक और नैश्चयिक।

नैश्चयिक अवग्रह अविशेषित-सामान्य का ज्ञान कराने वाला होता है और व्यावहारिक अवग्रह विशेषित सामान्य को ग्रहण करने वाला होता है। नैश्चयिक अवग्रह के पश्चात् होने वाले

३८ नन्दीसूत्र सूत्र ५१, पृ० २२, पुण्यविजय जी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईहा, अवाय से जिसके विशेष धर्मों की मीमांसा हो गई होती है, उसी वस्तु के नूतन-नूतन धर्मों की जिज्ञासा और निश्चय करना व्यावहारिक अवग्रह का कार्य है। अवाय के द्वारा एक धर्म का निश्चय होने के पश्चात् उसी पदार्थ सम्बन्धी अन्य धर्म की जिज्ञासा होती है। उस समय पूर्व का अवाय व्यावहारिक अर्थावग्रह हो जाता है और उस जिज्ञासा के निर्णय के लिए पुनः ईहा और अवाय होते हैं। प्रस्तुत क्रम तब तक चलता है, जब तक जिज्ञासायें पूर्ण नहीं होतीं।

'यह शब्द ही है', इस प्रकार निश्चय होने पर नैश्चयिक अवग्रह की परम्परा समाप्त हो जाती है। उसके पश्चात् व्यावहारिक अर्थावग्रह की धारा आगे बढ़ती है।

(१) व्यावहारिक अवग्रह—यह शब्द है।
(संशय—पशु का है या मानव का?)
(२) भाषा साफ और स्पष्ट है इसलिए मानव का होना चाहिए।
(३) अवाय—परीक्षा विशेष के बाद निर्णय करना मानव का ही शब्द है।

इस प्रकार नैश्चयिक अवग्रह का अवाय रूप व्यावहारिक अवग्रह का आदि रूप बनता है। इस तरह उत्तरोत्तर अनेक जिज्ञासाएँ हो सकती हैं। अवस्थाभेद की दृष्टि से यह शब्द वृद्ध का है या युवक का है, लिङ्गभेद की दृष्टि से स्त्री का है या पुरुष का है।

क्रम-विभाग

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का न उत्क्रम होता है और न व्यतिक्रम होता है। अर्थ-ग्रहण के पश्चात् ही विचार हो सकता है, विचार के पश्चात् ही निश्चय और निश्चय के पश्चात् ही धारणा होती है। इसलिए अवग्रहपूर्वक ईहा होती है, ईहापूर्वक अवाय होता है, और अवाय-पूर्वक धारणा होती है।

ईहा

मतिज्ञान का दूसरा भेद ईहा है। अवग्रह के पश्चात् ज्ञान ईहा में परिणत हो जाता है। अवग्रह के द्वारा सामान्य रूप में अवगृहीत पदार्थ के विषय में विशेष को जानने की ओर झुकी हुई ज्ञान-परिणति को ईहा कहते हैं। कल्पना कीजिए—कोई व्यक्ति आपका नाम लेकर आपको बुला रहा है। उसके शब्द आपके कर्ण-कुहरों में गिरते हैं। अवग्रह में आपको इतना ज्ञान हो जाता है कि कहीं से शब्द आ रहे हैं। शब्द श्रवण कर व्यक्ति चिन्तन करता है कि यह शब्द किसका है? कौन बोल रहा है? बोलने वाली महिला है या पुरुष है? इसके बाद वह चिंतन करता है कि यह शब्द मधुर व कोमल है इसलिए किसी महिला का होना चाहिए। क्योंकि पुरुष का स्वर कठोर व रूक्ष होता है। यहाँ तक ईहा ज्ञान की सीमा है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ईहा तो एक प्रकार से संशय है, ईहा और संशय में भेद ही क्या है?

उत्तर में कहा जाता है कि ईहा संशय नहीं है क्योंकि संशय में दोनों पक्ष बराबर होते हैं। संशय उभयकोटि स्पर्शी होता है। संशय में ज्ञान का किसी एक ओर झुकाव नहीं होता। यह स्त्री का स्वर है या पुरुष का स्वर है, यह निर्णय नहीं हो पाता। संशय अवस्था में ज्ञान त्रिशंकु की तरह मध्य में ही लटकता रहता है। किन्तु ईहा के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। ईहा में ज्ञान उभयकोटि में से एक कोटि की ओर झुक जाता है। संशय ज्ञान में उभय कोटियाँ समकक्ष होती हैं जबकि ईहा ज्ञान एक कोटि की ओर ढल जाता है। यह सही है ईहा में पूर्ण निर्णय या पूर्ण निश्चय नहीं हो पाता है तथापि ईहा में ज्ञान का झुकाव निर्णय की ओर अवश्य होता है। यही संशय और ईहा में बड़ा अन्तर है। धवला में भी कहा है—ईहा ज्ञान संदेह रूप नहीं है क्योंकि ईहात्मक विचार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्धि से संदेह का विनाश पाया जाता है।[३९] इस प्रकार ईहा ज्ञान संशय का पश्चाद्भावी निश्चयाभिमुख ज्ञान है।

नन्दीसूत्र में ईहा के लिए निम्न शब्द व्यवहृत हुए हैं—आयोगनता, मार्गणता गवेषणता, चिन्ता, विमर्ष। तत्त्वार्थभाष्य में ईहा, ऊह, तर्क, परीक्षा, विचारणा और जिज्ञासा ये शब्द आए हैं।[४०]

अवाय

मतिज्ञान का तृतीय भेद अवाय है। ईहा के द्वारा ईहित पदार्थ का निर्णय करना अवाय है। दूसरे शब्दों में विशेष के निर्णय द्वारा जो यथार्थ ज्ञान होता है, उसे अवाय कहते हैं। जैसे उत्पतन, निपतन, पक्षविक्षेप आदि के द्वारा "यह वक-पंक्ति ही है, ध्वजा नहीं है" ऐसा निश्चय होना अवाय है।[४१] इसमें सम्यक्, असम्यक् की विचारणा पूर्णरूप से परिपक्व हो जाती है और असम्यक् का निवारण होकर सम्यक् का निर्णय हो जाता है। विशेषावश्यक में एक मत यह भी उपलब्ध होता है कि जो गुण पदार्थ में नहीं है, उसका निवारण अवाय है। और जो गुण पदार्थ में है उसका स्थिरीकरण धारणा है। भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के मत से यह सिद्धान्त सही नहीं है। चाहे असद्गुणों का निवारण हो, चाहे सद्गुणों का स्थिरीकरण हो, चाहे दोनों एक साथ हों—सब अवायान्तर्गत हैं।[४२] तात्पर्य यह है कि अवायज्ञान कभी अन्वयमुख से प्रवृत्त होकर सद्भूत गुण का निश्चय करता है, कभी व्यतिरेकमुख से प्रवृत्त होकर असद्भूत का निषेध करता है और कभी-कभी अन्वय-व्यतिरेकमुख से प्रवृत्त होकर विधान और निषेध दोनों करता है।

नन्दीसूत्र में अवाय के पर्यायवाची निम्न शब्द आये हैं—आवर्तनता, प्रत्यावर्तनता, अवाय, बुद्धि, विज्ञान और षट्खण्डागम में अवाय, व्यवसाय, बुद्धि-विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा ये पर्यायवाची नाम हैं।[४३]

तत्त्वार्थभाष्य में अवाय के लिए निम्न शब्द व्यवहृत हुए हैं—अपगम, अपनोद, अपव्याध, अपेत, अपगत, अपविद्ध, अपनुत।[४४]

ये सभी शब्द निषेधात्मक हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में विशेषावश्यक भाष्य में जिस मत का उल्लेख किया है, संभवतः यह वही परम्परा हो। अवाय और अपाय ये दो शब्द हैं। अवाय विध्यात्मक है और अपाय निषेधात्मक है। राजवार्तिक में प्रश्न उठाया है कि अवाय शब्द ठीक है या अपाय ठीक है? उत्तर दिया है कि दोनों ठीक हैं। क्योंकि एक के वचन में दूसरे का ग्रहण स्वतः

---

३९ णेहा संदेहरूवा विचारबुद्धीदो संदेह विणासुवलंभा।

—धवला १, ९—१, १४, १७।३

४० (क) नंदीसूत्र सूत्र ५२, पृ० २२, पुण्यविजयजी
(ख) तत्त्वार्थभाष्य १।१५

४१ (क) प्रमाणमीमांसा १।१।२८
(ख) सर्वार्थसिद्धि १।१५।१११।६

४२ विशेषावश्यक भाष्य १८६

४३ (क) नंदीसूत्र सूत्र ५३
(ख) षट्खण्डागम १३।५।५। सूत्र ३९

४४ तत्त्वार्थसूत्र भाष्य १।१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाता है। जैसे 'यह दक्षिणी नहीं है', ऐसा अपाय त्याग करता है। तब 'उत्तरी है' यह अवाय निश्चय हो ही जाता है। इसी तरह 'उत्तरी है' इस प्रकार अवाय या निश्चय होने पर 'दक्षिणी नहीं है' यह अपाय त्याग हो जाता है। जो परम्परा इस ज्ञान को निषेधात्मक मानती है उसमें विशेषरूप से अपाय शब्द का प्रयोग हुआ है।[४५] जिस परम्परा में अवाय मात्र विध्यात्मक है उसमें प्रायः अवाय शब्द का प्रयोग हुआ है।[४६] वस्तुतः यह ज्ञान धारणा की कोटि में पहुंचने के पश्चात् ही पूर्ण निश्चित होता है, एतदर्थ ही यह मतभेद है। अवाय में कुछ न्यूनता अवश्य रहती है। विध्यात्मक मानने पर भी उसकी दृढ़ावस्था धारणा में ही मानी है। एतदर्थ दोनों परम्पराओं में विशेष मतभेद की स्थिति नहीं रहती है।

धारणा

मतिज्ञान का चौथा भेद धारणा है। अवाय के पश्चात् धारणा होती है। उसमें ज्ञान इतना दृढ़ हो जाता है कि उसका संस्कार अन्तरात्मा पर अंकित हो जाता है। इस कारण वह कालान्तर में स्मृति का हेतु बनता है। इसीलिए धारणा को स्मृति का हेतु कहा है। धारणा संख्येय और असंख्येय काल तक रह सकती है। विशेषावश्यक भाष्य में कहा है ज्ञान की अविच्युति धारणा है।[४७] जिस ज्ञान का संस्कार शीघ्र नष्ट न होकर चिरस्थायी रह सके और स्मृति का हेतु बन सके वही ज्ञान धारणा है।

धारणा के तीन प्रकार हैं—अविच्युति, वासना, अनुस्मरण।

१. **अविच्युति**—धारणा काल में जो सतत उपयोग चलता है वह अविच्युति है। उसमें पदार्थ के ज्ञान का विनाश नहीं होता है।

२. **वासना**—उपयोगान्तर होने पर धारणा वासना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यही वासना कारणविशेष से उद्बुद्ध होकर स्मृति को उत्पन्न करती है। वासना अपने आप में ज्ञान नहीं है। किन्तु अविच्युति का कार्य और स्मृति का कारण होने से दो ज्ञानों को जोड़नेवाली कड़ी रूप में ज्ञान मानी जाती है।

३. **अनुस्मरण**—भविष्य में प्रसंग मिलने पर उन संस्कारों का स्मृति के रूप में उद्बुद्ध होना।

इस प्रकार अविच्युति, वासना और स्मृति ये तीनों धारणा के अंग हैं। वादिदेवसूरि का मन्तव्य है कि धारणा अवाय-प्रदत्त ज्ञान की दृढ़तम अवस्था है। कुछ समय तक अवाय का दृढ़ रहना धारणा है। धारणा स्मृति का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि इतने लम्बे समय तक किसी ज्ञान का बराबर चलते रहना संभव नहीं है। यदि धारणा दीर्घकाल तक चलती रहे तो धारणा और स्मृति के बीच के काल में दूसरा ज्ञान होना बिलकुल असंभव है। क्योंकि एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते।[४८] संस्कार एक अलग गुण है जो आत्मा के साथ रहता है। धारणा उसकी व्यवहित कारण हो सकती है। किन्तु धारणा को—स्मृति का सीधा कारण मानना तर्कयुक्त नहीं है। धारणा की

---

४५ देखिए—सवार्थसिद्धि, राजवार्तिक ग्रन्थ।
४६ (क) देखिए—तत्त्वार्थसूत्र भाष्य, हारिभद्रीयटीका,
(ख) सिद्धसेनीय टीका
४७ विशेषावश्यक. १८०।
४८ स्याद्वाद रत्नाकर २।१०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी समयमर्यादा है, उसके बाद वह नष्ट हो जाती है और फिर नया ज्ञान उत्पन्न होता है। एक ज्ञान के पश्चात् दूसरे ज्ञान की परम्परा चलती रहती है। वादिदेवसूरि का प्रस्तुत अभिप्राय तर्क की दृष्टि से वजनदार प्रतीत होता है।[४६]

नन्दीसूत्र में धारणा के लिए धरणा, धारणा, स्थापना, प्रतिष्ठा, कोष्ठा शब्दों का प्रयोग हुआ है।

उमास्वाति ने प्रतिपत्ति, अवधारणा, अवस्थान, निश्चय, अवगम, अवबोध शब्द प्रयोग किये हैं।[५०]

मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चार भेदों का निरूपण किया जा चुका है। अवग्रह के दो भेद हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र का व्यंजन-अवग्रह होता है। व्यंजन के तीन अर्थ हैं—(१) शब्द आदि पुद्गल द्रव्य। (२) उपकरण-इन्द्रिय-विषय ग्राहक इन्द्रिय। (३) विषय और उपकरण इन्द्रिय का संयोग। व्यंजन-अवग्रह अव्यक्त ज्ञान होता है। चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं इसलिए इन दोनों से व्यंजनावग्रह नहीं होता है।

बौद्धदर्शन श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी मानता है। नैयायिक-वैशेषिकदर्शन चक्षु और मन को अप्राप्यकारी नहीं मानते हैं, किन्तु जैनदर्शन की विचारधारा इन दर्शनों से भिन्न है।

श्रोत्र व्यवहित शब्द को नहीं जानता। जो शब्द श्रोत्र से संपृक्त होता है, वही उसका विषय बनता है, एतदर्थ श्रोत्र को अप्राप्यकारी नहीं कह सकते। चक्षु और मन व्यवहित पदार्थ को जानते हैं, एतदर्थ वे दोनों प्राप्यकारी नहीं हो सकते। क्योंकि दोनों का ग्राह्य वस्तु के साथ सम्पर्क नहीं होता।

वैज्ञानिक दृष्टि से—चक्षु में दृश्य वस्तु का तदाकार प्रतिबिम्ब पड़ता है। जिससे चक्षु अपने विषय का ज्ञान करती है। नैयायिक मानते हैं कि चक्षु प्राप्यकारी हैं क्योंकि चक्षु की सूक्ष्म रश्मियाँ पदार्थ से संपृक्त होती हैं। विज्ञान इस बात को नहीं मानता। वह आँख को बहुत बढ़िया केमरा मानता है। उसमें दूर की वस्तु का चित्र अंकित हो जाता है। इससे जैनदृष्टि की अप्राप्यकारिता में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आती। क्योंकि विज्ञान के अनुसार भी चक्षु का पदार्थ के साथ सम्पर्क नहीं होता। काच निर्मल है। उसके सामने जो वस्तुएँ आती हैं उनका प्रतिबिम्ब उसमें गिरता है। ठीक इसी प्रकार की प्रक्रिया आँख के सामने किसी वस्तु के आने पर होती है। काच में वस्तु का प्रतिबिम्ब गिरता है। किन्तु वस्तु और प्रतिबिम्ब एक नहीं होते। एतदर्थ काच उस वस्तु से संपृक्त नहीं कहलाता। ठीक यही बात आंख के लिए भी है।

अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चारों पाँच इन्द्रियों और मन इन छः से होते हैं। अतः इनके ४×६=२४ भेद होते हैं। व्यंजनावग्रह मन और चक्षु को छोड़कर शेष चार इंद्रियों से होता है, इसलिए उसके चार भेद होते हैं। कुल २४+४=२८। इस प्रकार इन ज्ञानों में श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार प्रत्येक ज्ञान के फिर १. बहु, २. बहुविध, ३. अल्प, ४. अल्पविध, ५. क्षिप्र, ६. अक्षिप्र, ७. अनिश्चित, ८. निश्चित, ९. असंदिग्ध, १०. संदिग्ध, ११. ध्रुव, १२. अध्रुव ये बारह भेद होते हैं।

---

४६ देखिए—जैनदर्शन, डा. मोहनलाल जी मेहता पृ० २३२

५० धारणाप्रतिपत्तिरवधारणमवस्थानं निश्चयोऽवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम्।

—तत्त्वार्थभाष्य १।१५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बहु का अर्थ अनेक और अल्प का अर्थ एक है। अनेक वस्तुओं का ज्ञान बहुग्राही है। एक वस्तु का ज्ञान अल्पग्राही है। अनेक प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान बहुविधग्राही है। एक ही प्रकार की वस्तु का ज्ञान अल्पविधग्राही है। बहु और अल्प इनका सम्बन्ध संख्या से है। बहुविध या अल्पविध इनका सम्बन्ध जाति से है। अवग्रह आदि ज्ञान जो शीघ्र होता है वह क्षिप्र कहलाता है और जो विलम्ब से होता है वह अक्षिप्र कहलाता है। हेतु के बिना होने वाला वस्तुज्ञान अनिश्चित है। पूर्वानुभूत किसी हेतु से होने वाला ज्ञान निश्चित है।

निश्चित ज्ञान असंदिग्ध है और अनिश्चित ज्ञान संदिग्ध है। अवग्रह और ईहा के अनिश्चित से इसमें भेद है। इसमें यह पदार्थ है—इस प्रकार निश्चय होने पर भी उसके विशेष गुणों के प्रति संदेह रहता है। अवश्यम्भावी ज्ञान ध्रुव व उसके विपरीत अध्रुव है। इन बारह भेदों में से चार भेद प्रमेय की विविधता पर अवलम्बित हैं और शेष आठ भेद प्रमाता के क्षयोपशम की विविधता पर आश्रित हैं।

दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में इन नामों में कुछ अंतर है, उन्होंने अनिश्चित और निश्चित के स्थान पर अनिःसृत और निःसृत शब्द का प्रयोग किया है। अनिःसृत का अर्थ है असकल रूप से आविर्भूत पुद्गलों का ग्रहण और निःसृत का अर्थ है—सकल आविर्भूत पुद्गलों का ग्रहण। इसी प्रकार असंदिग्ध और संदिग्ध के स्थान पर अनुक्त और उक्त शब्द का प्रयोग हुआ है। अनुक्त का अर्थ है—अभिप्राय मात्र से जान लेना और उक्त का अर्थ है कहने से जानना।[५१]

उपर्युक्त २८ भेदों में से प्रत्येक के १२ भेद करने से कुल २८ × १२ = ३३६ भेद होते हैं। इस प्रकार मतिज्ञान के ३३६ भेद हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में भी इन नामों के विषय में सामान्य मतभेद पाया जाता है।

श्रुतज्ञान

मतिज्ञान के पश्चात् जो चिंतन-मनन के द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान होने के लिए शब्द-श्रवण आवश्यक है। शब्द-श्रवण मति के अन्तर्गत है क्योंकि वह श्रोत्र का विषय है। जब शब्द सुनाई देता है तब उसके अर्थ का स्मरण होता है। शब्द-श्रवण रूप जो प्रवृत्ति है वह मतिज्ञान है, उसके पश्चात् शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचकभाव के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसलिए मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान कदापि सम्भव नहीं है। श्रुतज्ञान का अंतरंग कारण तो श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम है। मतिज्ञान उसका बहिरंग कारण है। मतिज्ञान होने पर भी यदि श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम नहीं हुआ तो श्रुतज्ञान नहीं हो सकता। यह श्रुतज्ञान का दार्शनिक विश्लेषण है।

प्राचीन आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ है—वह ज्ञान जो श्रुत से अर्थात् शास्त्र से सम्बद्ध हो। आप्त पुरुष रचित आगम व अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगबाह्य के अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्ट के बारह भेद हैं।[५२]

अंगप्रविष्ट उसे कहते हैं जो साक्षात् तीर्थङ्कर द्वारा प्रकाशित होता है और गणधरों द्वारा सूत्रबद्ध किया जाता है। आयु, बल, बुद्धि आदि के क्षीण होते हुए देखकर बाद में आचार्य सर्व-

---

५१ (क) सर्वार्थसिद्धि १।१६
(ख) राजवार्तिक १।१६

५२ श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधारण के हित के लिए अंगप्रविष्ट ग्रंथों को आधार बनाकर विभिन्न विषयों पर ग्रंथ लिखते हैं, वे ग्रंथ अंगबाह्य के अंतर्गत हैं। अर्थात् जिसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थङ्कर हैं और सूत्र के रचयिता गणधर हैं वह अंगप्रविष्ट है। जिसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थङ्कर हों और सूत्र के रचयिता स्थविर हों वह अंगबाह्य है। अंगबाह्य के कालिक, उत्कालिक आदि अनेक भेद हैं। इन सभी का परिचय हमने साहित्य और संस्कृति नामक ग्रंथ में दिया है। पाठकों को वहाँ देखना चाहिए। श्रुत वस्तुतः ज्ञानात्मक है। ज्ञानोत्पत्ति के साधन होने के कारण उपचार से शास्त्रों को भी श्रुत कहते हैं।

आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है कि जितने अक्षर हैं और उनके जितने विविध संयोग हैं, उतने ही श्रुतज्ञान के भेद हैं। उन सारे भेदों की गणना करना संभव नहीं है। अतः श्रुतज्ञान के मुख्य चौदह भेद बताए हैं—[५३]

१. अक्षर	८. अनादिक
२. अनक्षर	९. सपर्यवसित
३. संज्ञी	१०. अपर्यवसित
४. असंज्ञी	११. गमिक
५. सम्यक्	१२. अगमिक
६ मिथ्या	१०. अंगप्रविष्ट
७. सादिक	१४. अंगबाह्य

इन चौदह भेदों का स्वरूप इस प्रकार है। अक्षरश्रुत के तीन भेद हैं—

१. संज्ञाक्षर—वर्ण का आकार।

२. व्यंजनाक्षर—वर्ण की ध्वनि।

३. लब्ध्यक्षर—अक्षर सम्बन्धी क्षयोपशम।

संज्ञाक्षर व व्यंजनाक्षर द्रव्यश्रुत हैं और लब्ध्यक्षर भावश्रुत है।

खाँसना, ऊँचा श्वास लेना, छींकना आदि अनक्षरश्रुत हैं।

संज्ञा के तीन प्रकार होने के कारण संज्ञीश्रुत के भी तीन प्रकार हैं— १. दीर्घकालिकी—वर्तमान, भूत और भविष्य विषयक विचार दीर्घकालिकी संज्ञा है। २. हेतूपदेशिकी—केवल वर्तमान की दृष्टि से हिताहित का विचार करना हेतूपदेशिकी संज्ञा है। ३. दृष्टिवादोपदेशिकी—सम्यक् श्रुत के ज्ञान के कारण हिताहित का बोध होना दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा है। जो इन संज्ञाओं को धारण करते हैं, वे संज्ञी कहलाते हैं। जिनमें ये संज्ञाएँ नहीं हैं वे असंज्ञी हैं।

असंज्ञी के भी तीन भेद हैं। जो दीर्घकाल सम्बन्धी सोच नहीं कर सकते वे प्रथम नम्बर के असंज्ञी हैं। जो अमनस्क हैं वे द्वितीय नम्बर के असंज्ञी हैं। यहाँ पर अमनस्क का अर्थ मनरहित नहीं किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म मनवाला है। जो मिथ्याश्रुत में निष्ठा रखते हैं, वे तृतीय नम्बर के असंज्ञी हैं।

सम्यक् श्रुत उत्पन्न ज्ञान-दर्शनधारक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी ने जो द्वादशाङ्गी का उपदेश दिया, वह सम्यक्श्रुत है और सर्वज्ञों के सिद्धान्त के विपरीत जो श्रुत है, वह मिथ्याश्रुत है।

जिस की आदि है वह सादिक श्रुत है और जिसकी आदि नहीं है वह अनादिक श्रुत है। द्रव्य-रूप से श्रुत अनादिक है और पर्यायरूप से सादिक है।

---

५३ नन्दीसूत्र सूत्र ३७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिसका अन्त होता है वह सपर्यवसित है और जिसका अन्त नहीं होता वह अपर्यवसित श्रुत है। यहाँ पर भी द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से समझना चाहिए।

जिसमें सदृश पाठ हों वह गमिक श्रुत है। जिसमें असदृशाक्षरालापक हों वह अगमिक है।

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य का स्पष्टीकरण पूर्व पंक्तियों में किया जा चुका है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के सम्बन्ध में कुछ बातें समझना आवश्यक हैं—

प्रत्येक संसारी जीव में मति और श्रुतज्ञान अवश्य होते हैं। प्रश्न यह है कि ये ज्ञान कब तक रहते हैं? केवलज्ञान के पूर्व तक रहते हैं या बाद में भी रहते हैं? इसमें आचार्यों का एक-मत नहीं है। कितने ही आचार्यों का अभिमत है कि केवलज्ञान की उपलब्धि के पश्चात् भी मति-ज्ञान और श्रुतज्ञान की सत्ता रहती है। जैसे दिवाकर के प्रचण्ड प्रकाश के सामने ग्रह और नक्षत्रों का प्रकाश नष्ट नहीं होता किन्तु तिरोहित हो जाता है, उसी प्रकार केवलज्ञान के महाप्रकाश के समक्ष मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का अल्प प्रकाश नष्ट नहीं होता किन्तु तिरोहित हो जाता है। दूसरे आचार्यों का मन्तव्य है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं और केवलज्ञान क्षायिक ज्ञान है। जब सम्पूर्ण रूप से ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है, तब क्षायिक ज्ञान प्रकट होता है, जिसे केवलज्ञान कहते हैं। उस समय क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकता। इसलिए केवल-ज्ञान होने पर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की सत्ता नहीं रहती। प्रथम मत की अपेक्षा द्वितीय मत अधिक तर्कसंगत व वजनदार है और जैनदर्शन के अनुकूल है।

श्रुत-अननुसारी साभिलाप (शब्दसहित) ज्ञान मतिज्ञान है।
श्रुत-अनुसारी साभिलाप (शब्दसहित) ज्ञान श्रुतज्ञान है।

मतिज्ञान साभिलाप और अनभिलाप दोनों प्रकार का होता है। किन्तु श्रुतज्ञान साभिलाप ही होता है।[५४] अर्थावग्रह को छोड़कर शेष मतिज्ञान के प्रकार साभिलाप होते हैं। श्रुतज्ञान साभिलाप ही होता है। किन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि साभिलाप ज्ञान मात्र श्रुतज्ञान नहीं है। क्योंकि ज्ञान साक्षर होने मात्र से श्रुत नहीं कहलाता। साक्षार ज्ञान परार्थ या परोपदेश क्षय या वचनाभिमुख होने की स्थिति में श्रुत बनता है। मतिज्ञान साक्षर हो सकता है किन्तु वचनात्मक या परोपदेशात्मक नहीं होता। श्रुतज्ञान साक्षर होने के साथ-साथ वचनात्मक होता है।[५५]

मतिज्ञान का कार्य है उसके सम्मुख आये हुए स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द, आदि अर्थों को जानना और उनकी विविध अवस्थाओं पर विचार करना। श्रुतज्ञान का कार्य है—शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से शब्द के द्वारा प्रतिपादित करने में समर्थ होना। मति को अर्थज्ञान और श्रुत को शब्दार्थज्ञान कहना चाहिये।

मति और श्रुत का सम्बन्ध कार्य-कारणसम्बन्ध है। मति कारण है और श्रुत कार्य है। श्रुतज्ञान शब्द, संकेत और स्मरण से उत्पन्न होने वाला अर्थबोध है। इस अर्थ का यह संकेत है, यह जानने के पश्चात् ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का परिज्ञान होता है। संकेत को मति जानती है। उसके अवग्रहादि होते हैं, उसके पश्चात् श्रुतज्ञान होता है।

---

५४ विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति १००
५५ तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइ ठवणिज्जाइ। —अनुयोगद्वार-२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्रव्य-श्रुत मति (श्रोत्र) ज्ञान का कारण बनता है, परन्तु भाव-श्रुत उसका कारण नहीं बनता। एतदर्थ मति को श्रुतपूर्वक नहीं माना जाता। दूसरे मत से द्रव्य-श्रुत श्रोत्र का कारण नहीं है, विषय बनता है। कारण कहना चाहिये जबकि श्रूयमाण शब्द से श्रोत्र को उसके अर्थ का परिज्ञान हो, पर इस प्रकार होता नहीं है। केवल शब्द का बोध श्रोत्र को होता है, श्रुतनिश्रित मति भी श्रुतज्ञान का कार्य नहीं होता। अमुक लक्षण वाली गाय होती है। यह परोपदेश या श्रुत-ग्रन्थ से जाना, उसी प्रकार के संस्कार बैठ गये। गाय देखी और जान लिया कि यह गाय है, यह ज्ञान पूर्वसंस्कार से पैदा हुआ! एतदर्थ इसे श्रुतनिश्रित कहा जाता है।[५६] ज्ञानकाल में यह "शब्द" से उत्पन्न नहीं हुआ। एतदर्थ इसे श्रुत का कार्य नहीं माना जाता।

मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान वर्तमान, भूत और भविष्य इन तीनों विषयों में प्रवृत्त होता है। प्रस्तुत विषयकृत भेद के अतिरिक्त दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता और श्रुतज्ञान में होता है। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान इन्द्रिय-जन्य और मनोजन्य होने पर भी शब्दोल्लेख-युक्त है वह श्रुतज्ञान है और जिसमें शब्दोल्लेख नहीं होता, वह मतिज्ञान है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं इन्द्रिय और मनोजन्य एक दीर्घ ज्ञान-व्यापार का प्राथमिक अपरिपक्व अंश मतिज्ञान है और उत्तरवर्ती परिपक्व व स्पष्ट अंश श्रुतज्ञान है। जो ज्ञान भाषा में उतारा जा सके वह श्रुतज्ञान है और जो ज्ञान भाषा में उतारने-युक्त परिपाक को प्राप्त न हो, वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान को यदि दूध कहें तो श्रुतज्ञान को खीर कह सकते हैं।[५७]

अवधिज्ञान

जिस ज्ञान की सीमा होती है उसे अवधि कहते हैं। अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थों को ही जानता है।[५८] मूर्तिमान द्रव्य ही इसके ज्ञेयविषय की मर्यादा है। जो रूप, रस, गंध और स्पर्श युक्त है, वही अवधि का विषय है। अरूपी पदार्थों में अवधि की प्रवृत्ति नहीं होती। षट् द्रव्यों में से केवल पुद्गल द्रव्य ही अवधि का विषय है। क्योंकि शेष पाँचों द्रव्य अरूपी हैं। केवल पुद्गल द्रव्य ही रूपी है। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से इसकी अनेक मर्यादाएँ बनती हैं। जैसे—जो ज्ञान इतने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का ज्ञान कराता है उसे अवधि कहते हैं।

अवधिज्ञान का विषय

१. द्रव्य की दृष्टि से जघन्य अनन्त मूर्तिमान द्रव्य, उत्कृष्ट समस्त मूर्तिमान द्रव्य।

२. क्षेत्र की दृष्टि से जघन्य न्यून-से-न्यून अंगुल का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट अधिक-से-अधिक असंख्य क्षेत्र (सम्पूर्ण लोकाकाश) और शक्ति की कल्पना करें तो लोकाकाश के जैसे असंख्य खण्ड उसके विषय हो सकते हैं।

३. काल की दृष्टि से एक आवलिका का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट असंख्य अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल।

४. भाव की दृष्टि से जघन्य अनन्त-भाव पर्याय, उत्कृष्ट अनन्त भाव—सभी पर्यायों का अनन्तवां भाग।

---

५६ विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति १६८।
५७ तत्त्वार्थसूत्र। —पं० सुखलाल जी, पृ० ३५-३६।
५८ रूपिष्ववधेः। —तत्त्वार्थसूत्र १।२८।

आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवधिज्ञान के अधिकारी

अवधिज्ञान के अधिकारी चारों गतियों के जीव हैं। देवों और नारकों में जो अवधिज्ञान होता है वह भवप्रत्यय है।[५९] और मनुष्यों एवं तिर्यंचों में जो अवधिज्ञान होता है वह गुण-प्रत्यय है। जो अवधिज्ञान जन्म के साथ-ही-साथ प्रकट होता है, वह भवप्रत्यय है। देव और नारक जीवों को जन्म लेते ही अवधिज्ञान पैदा हो जाता है। वह भव ही ऐसा है कि वहाँ पर जन्म लेते ही उन्हें अवधिज्ञान हो जाता है। उसके लिए उन्हें व्रत, नियम आदि का पालन करना नहीं पड़ता। मनुष्य और तिर्यंच में ऐसा नहीं है। उन्हें व्रत, नियम का पालन करने से अवधिज्ञान होता है। इसलिए इसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं।

प्रश्न उद्बुद्ध हो सकता है कि अवधिज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान होता है तो फिर देव और नारकों को जन्म से ही किस प्रकार होता है? उसके लिए क्या क्षयोपशम आवश्यक नहीं है?

उत्तर में निवेदन है कि अवधिज्ञान के लिए अवधिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है। किन्तु अन्तर यह है कि देवों और नारकों का क्षयोपशम भवप्रत्यय होता है। वहाँ पर जन्म लेते ही अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम हो ही जाता है। किन्तु मनुष्य व तिर्यंच के लिए वह नियम नहीं है। उन्हें विशेषरूप से नियम आदि का पालन करना होता है, तब जाकर अवधि-ज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है। क्षयोपशम दोनों में आवश्यक है। अन्तर केवल साधन में है। जो जीव जन्मग्रहण करने मात्र से क्षयोपशम कर सकते हैं, उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय है। जैसे पक्षियों में जन्म लेते ही उड़ने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, पर मानव में नहीं।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान के छः प्रकार हैं—[६०]

१. **अनुगामी**—जिस क्षेत्र में स्थित जीव को अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, उससे अन्यत्र जाने पर नेत्र के समान जो साथ-साथ जाय—बना रहे।

२. **अननुगामी**—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र में जाने पर जो न रहे।

३. **वर्धमान**—उत्पत्ति के समय में कम प्रकाशमान हो और बाद में क्रमशः बढ़े।

४. **हीयमान**—उत्पत्ति काल में अधिक प्रकाशमान हो और बाद में क्रमशः घटे।

५. **अप्रतिपाती**—जीवनपर्यन्त रहने वाला, अथवा केवलज्ञान उत्पन्न होने तक रहने वाला।

६. **प्रतिपाती**—उत्पन्न होकर जो पुनः चला जाए।

उपर्युक्त अवधिज्ञान के ये छः भेद स्वामी के गुण की दृष्टि से किये गये हैं। तत्त्वार्थ-राजवार्तिक में क्षेत्र आदि की दृष्टि से तीन भेद किये गये हैं—

१. देशावधि, २. परमावधि, और ३. सर्वावधि।[६१]

---

५९ (क) नन्दीसूत्र ७,
(ख) द्विविधोऽवधिः। तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्।
—तत्त्वार्थसूत्र १।२१-२२

६० तं समासओ छव्विहं पण्णत्तं। तं जहा—आणुगमियं, अणाणुगमियं, वड्ढमाणयं, हायमाणं, पडिवाति, अपडिवाति।
—नन्दीसूत्र सूत्र ९

६१ पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदा देशावधिः परमावधिः सर्वावधिश्चेति।
—राजवार्तिक १।२२।५ (वृत्तिसहित)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देशावधि के तीन भेद होते हैं। जघन्य देशावधि का क्षेत्र उत्सेधांगुल का असंख्यातवां भाग है। उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र सम्पूर्ण लोक है। अजघन्योत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र इन दोनों के मध्य का है। जिसके असंख्यात प्रकार हैं।

जघन्य परमावधि का क्षेत्र एक प्रदेश से अधिक लोक है। उत्कृष्ट परमावधि का क्षेत्र असंख्यात लोकप्रमाण है। अजघन्योत्कृष्ट परमावधि का क्षेत्र इन दोनों के मध्य का है।[६२]

सर्वावधि एक प्रकार का होता है। उसका क्षेत्र उत्कृष्ट परमावधि के क्षेत्र से बाहर असंख्यात क्षेत्रप्रमाण है। क्षेत्र की अधिक-से-अधिक मर्यादा लोक है। लोक से बाहर कोई पदार्थ नहीं है। जो लोक से अधिक क्षेत्र का निर्देश किया गया है, उसका तात्पर्य ज्ञान की सूक्ष्मता से है।

देशावधि चारों गतियों में होता है किन्तु परमावधि और सर्वावधि मनुष्यों में मुनियों के ही होते हैं।[६३]

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन सात निक्षेपों से अवधिज्ञान को समझने का सूचन किया है।[६४]

मनःपर्यायज्ञान

यह ज्ञान मनुष्यगति के अतिरिक्त अन्य किसी गति में नहीं होता। मनुष्य में भी संयत मनुष्य को देता है, असंयत मनुष्य को नहीं। मनःपर्यायज्ञान का अर्थ है—मनुष्यों के मन के चिन्तित अर्थ को जानने वाला ज्ञान। मन एक प्रकार का पौद्‌गलिक द्रव्य है। जब व्यक्ति किसी विषयविशेष का विचार करता है तब उसके मन का नाना प्रकार की पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। मनःपर्यायज्ञानी मन की उन विविध पर्यायों का साक्षात्कार करता है। उस साक्षात्कार से वह यह जानता है कि व्यक्ति इस समय में यह चिन्तन कर रहा है। केवल अनुमान से यह कल्पना करना कि अमुक व्यक्ति इस समय अमुक प्रकार की कल्पना कर रहा होगा, इस प्रकार अनुमान को मनःपर्याय ज्ञान नहीं कहते। यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्‌गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो—मन के परिणमन का आत्मा के द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष करके मानव के चिन्तित अर्थ को जान लेना मनःपर्यायज्ञान है। यह ज्ञान मनपूर्वक नहीं होता, किन्तु आत्मपूर्वक होता है। मन तो उसका विषय है। ज्ञाता साक्षात् आत्मा है।[६५]

दो विचारधाराएँ

मनःपर्यायज्ञान के सम्बन्ध में आचार्यों की दो विचारधाराएँ हैं। आचार्य पूज्यपाद एवं आचार्य अकलंक का मन्तव्य है कि मनःपर्यायज्ञानी चिन्तित अर्थ का प्रत्यक्ष करता है। अर्थात् मन के द्वारा चिन्तित अर्थ के ज्ञान के लिए मन को माध्यम न मानकर सीधा उस अर्थ का प्रत्यक्ष मान

६२ विभिन्न वस्तुओं के नापने के लिए विभिन्न अंगुल निश्चित किये गये हैं। मुख्यरूप से उसके तीन भेद हैं—उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल, और आत्मांगुल।

६३ तत्त्वार्थसार, अमृतचन्द्र सूरि, पृ० १२

—गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला

६४ विशेषावश्यक भाष्य

६५ मणपज्जवणाणं पुण, जणमणपरिचिंतियत्थ पागडाणं।
माणुसखेत्तनिबद्धं, गुणपच्चइयं चरित्तवओ॥

—आवश्यक निर्युक्ति ७६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेती है। यह परम्परा मन के पर्याय और अर्थपर्याय में लिंग और लिङ्गी का सम्बन्ध नहीं मानती। मन एकमात्र सहारा है। जैसे कोई व्यक्ति यह कहे कि "सूर्य बादलों में है" इसका तात्पर्य यह नहीं कि—बादल सूर्य के जानने में कारण है। बादल तो सूर्य को जानने के लिए आधार है। वस्तुतः प्रत्यक्ष तो अर्थ का ही होता है। इसके लिए मन रूप आधार की आवश्यकता है।[६६]

आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण का कथन है कि मनःपर्यायज्ञानी मन की विविध अवस्थाओं का प्रत्यक्ष करता है। किन्तु उन अवस्थाओं में जो अर्थ रहा हुआ है, उसका अनुमान करता है। अर्थात् यह परम्परा अर्थ का ज्ञान अनुमान से मानती है। उसका कथन है कि मन का ज्ञान मुख्य है। अर्थ का ज्ञान उसके पश्चात् की वस्तु है। मन के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है। सीधा अर्थ-ज्ञान नहीं होता है। मनःपर्याय का अर्थ ही यह है कि मन की पर्यायों का ज्ञान, न कि अर्थ की पर्यायों का ज्ञान।[६७]

उपर्युक्त दोनों परम्पराओं में द्वितीय परम्परा अधिक तर्कसंगत है। क्योंकि मनःपर्याय-ज्ञान से साक्षात् अर्थज्ञान होना सम्भव नहीं है। उसका विषय रूपी द्रव्य का अनन्तवां भाग है।[६८] यदि मनःपर्यायज्ञान मन के सभी विषयों का साक्षात् ज्ञान कर लेता है तो अरूपी द्रव्य भी उसके विषय हो जाते हैं। क्यों कि मन के द्वारा अरूपी द्रव्य का भी चिन्तन हो सकता है। जबकि इस प्रकार नहीं होता। जितने मूर्त द्रव्यों का अवधिज्ञानी साक्षात्कार करता है, उन से कम का मनः-पर्यायज्ञानी करता है। अवधिज्ञानी सभी प्रकार के पुद्‌गल द्रव्यों को ग्रहण कर सकता है। किन्तु मनः-पर्यायज्ञानी उनके अनन्तवें भाग अर्थात् मन रूप बने हुए पुद्‌गलों का मानुषोत्तर क्षेत्र के अन्तर्गत ही ग्रहण करता है। मन का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् उसके द्वारा चिन्तित अर्थ का परिज्ञान अनुमान से हो सकता है। ऐसा होने पर मन के द्वारा सोचे गये मूर्त-अमूर्त सभी द्रव्यों का ज्ञान हो सकता है।[६९]

दो प्रकार

मनःपर्यायज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति ये दो प्रकार हैं।[७०] ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति ज्ञान अधिक विशुद्ध होता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति मन के सूक्ष्म परिणामों को भी जान सकता है। दोनों में दूसरा अन्तर यह भी है कि ऋजुमति प्रतिपाती है अर्थात् उत्पन्न होने के पश्चात् नष्ट भी हो जाता है। किन्तु विपुलमति केवलज्ञान की प्राप्ति तक बना रहता है।[७१]

मनःपर्यायज्ञान का विषय

१. द्रव्य की दृष्टि से—मन रूप में परिणत पुद्‌गल द्रव्य (मनोवर्गणा)।
२. क्षेत्र की दृष्टि से—मनुष्यक्षेत्र।

---

६६ (क) सर्वार्थसिद्धि १।९
(ख) तत्त्वार्थराजवार्तिक १।२६।६-७।
६७ विशेषावश्यक भाष्य ८१४।
६८ तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य। —तत्त्वार्थसूत्र १।२९।
६९ जैनदर्शन डा० मोहनलाल मेहता
७० नन्दीसूत्र सूत्र १८
७१ विशुद्धयप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः। —तत्त्वार्थसूत्र १।२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. काल की दृष्टि से—असंख्यात काल तक का (पल्योपम का असंख्यातवां भाग) अतीत का और भविष्य।

४. भाव की दृष्टि से—मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाएँ।

अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान की विशेषताएँ

अवधि और मनःपर्याय ज्ञान ये दोनों ज्ञान आत्मा से होते हैं। इनके लिए इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु ये दोनों ज्ञान रूपी द्रव्य तक ही सीमित हैं। इसलिए अपूर्ण अर्थात् विकलप्रत्यक्ष हैं। जबकि केवलज्ञान रूपी-अरूपी सभी द्रव्यों को जानने के कारण सकलप्रत्यक्ष है। अवधि और मनःपर्याय में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय इन चार दृष्टियों से अन्तर है। मनःपर्यायज्ञान अपने विषय को अवधिज्ञान की अपेक्षा विशद रूप से जानता है। इसलिए वह उससे अधिक विशुद्ध है। यह विशुद्धि विषय की न्यूनाधिकता पर नहीं है। विषय की सूक्ष्मता पर अवलम्बित है। महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि अधिक मात्रा में पदार्थों को जाना जाय, पर महत्त्वपूर्ण यह है कि ज्ञेय पदार्थ की सूक्ष्मता का परिज्ञान हो। मनोवर्गणाओं की मन के रूप में परिणत पर्यायें अवधिज्ञान का भी विषय बनती हैं। तथापि मनःपर्याय उन पर्यायों का स्पेशलिस्ट (विशेषज्ञ-सूक्ष्मज्ञ) है। एक डाक्टर वह होता है जो सम्पूर्ण शरीर की चिकित्सा-विधि साधारण रूप से जानता है, और एक डाक्टर वह होता है जो आँख का, कान का, दाँत का, एक अवयव विशेष का पूर्ण निष्णात होता है। यही बात अवधि और मनःपर्याय की है।

अवधिज्ञान के द्वारा रूपी द्रव्य का सूक्ष्म अंश जितना जाना जाता है उससे अधिक सूक्ष्म अंश मनःपर्यायज्ञान के द्वारा जाना जाता है।

अवधिज्ञान का क्षेत्र अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर सम्पूर्ण लोक के रूपी पदार्थ हैं किन्तु मनःपर्याय का क्षेत्र मनुष्यलोक ही है।

अवधिज्ञान के स्वामी चारों गति वाले जीव हैं। किन्तु मनःपर्याय का स्वामी केवल चारित्रवान् श्रमण ही हो सकता है।

अवधिज्ञान का विषय सम्पूर्ण रूपी द्रव्य है (सब पर्याय नहीं), किन्तु मनःपर्यायज्ञान का विषय केवल मन है। जो कि रूपी द्रव्य का अनन्तवां भाग है।

केवलज्ञान

केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय है।[७२] ज्ञानावरणीयकर्म के नष्ट होने से ज्ञान के अवान्तर भेद मिट जाते हैं और ज्ञान एक हो जाता है, उसके पश्चात् इन्द्रिय और मन के सहयोग की आवश्यकता नहीं होती, एतदर्थ वह केवल कहलाता है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति में गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! केवली इन्द्रिय और मन से जानता है और देखता है?

भगवान् ने समाधान करते हुए कहा—गौतम! वह इन्द्रियों से जानता व देखता नहीं है।

गौतम ने पुनः प्रश्न किया—भगवान्! ऐसा क्यों होता है?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! केवली पूर्व दिशा में मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। वह इन्द्रिय का विषय नहीं है।[७३]

---

७२ केवलमेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणंतं च।

—विशेषावश्यक भाष्य ८४।

७३ व्याख्याप्रज्ञप्ति ६।१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल शब्द का दूसरा अर्थ शुद्ध है।[७४] ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से ज्ञान में किञ्चिन्मात्र भी अशुद्धि का अंश नहीं रहता है। इसलिए वह "केवल" कहलाता है।

केवल शब्द का तीसरा अर्थ सम्पूर्ण है।[७५] ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से ज्ञान में अपूर्णता नहीं रहती है, इसलिये वह "केवल" कहलाता है।

केवल शब्द का चौथा अर्थ—असाधारण है।[७६] ज्ञानावरणीय कर्म के नष्ट होने पर जैसा ज्ञान होता है, वैसा दूसरा नहीं होता, इसलिए वह "केवल" कहलाता है।

केवल शब्द का पांचवाँ अर्थ अनन्त है।[७७] ज्ञानावरणीय के नष्ट होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह फिर कदापि आवृत नहीं होता, एतदर्थ वह 'केवल' कहलाता है।

"केवल" शब्द के उपर्युक्त अर्थ—"सर्वज्ञता" से सम्बन्धित नहीं हैं। आवरण के पूर्ण रूप से क्षय होने पर ज्ञान एक शुद्ध असाधारण और अप्रतिपाती होता है। इस में किसी भी प्रकार का विवाद नहीं है। विवाद का मुख्य विषय ज्ञान की पूर्णता है। कितने ही तार्किकों का मन्तव्य है कि ज्ञान की पूर्णता का अर्थ बहुश्रुतता है। कितने ही आचार्य ज्ञान की पूर्णता का अर्थ सर्वज्ञता करते हैं।

जैन परम्परा में केवलज्ञान का अर्थ सर्वज्ञता है। केवलज्ञानी केवलज्ञान पैदा होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है।[७८] केवलज्ञान का विषय सर्व द्रव्य और सर्व पर्याय हैं।[७९]

कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसे केवलज्ञानी नहीं जानता हो। कोई भी पर्याय ऐसा नहीं जो केवलज्ञान का विषय न हो। छहों द्रव्यों के वर्तमान, भूत और भविष्य के जितने भी पर्याय हैं, सभी केवलज्ञान के विषय हैं। आत्मा की ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकास केवलज्ञान है। जब पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब अपूर्ण ज्ञान स्वतः नष्ट हो जाता है। इसके सम्बन्ध में पूर्व लिख चुके हैं।

दर्शन और ज्ञान विषयक तीन मान्यताएँ

उपयोग के दो भेद हैं—साकार और अनाकार। साकार उपयोग को ज्ञान कहते हैं और अनाकार उपयोग को दर्शन।[८०] साकार का अर्थ सविकल्प है और अनाकार का अर्थ निर्विकल्प है। जो उपयोग वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करता है वह सविकल्प है। और जो उपयोग सामान्य अंश को ग्रहण करता है वह निर्विकल्प है।

ज्ञान और दर्शन की मान्यता जैन साहित्य में अत्यधिक प्राचीन है। ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म का नाम ज्ञानावरण है और दर्शन को आच्छादित करने वाले कर्म का नाम दर्शनावरण।

---

७४ शुद्धम्-निर्मलम्-सकलावरणमलंकविगमसम्भूतत्वात्।
—विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति ८४

७५ वही—८४

७६ असाधारणम्—अनन्य-सदृशम् तादृशापरज्ञानाभावात्।
—विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति ८४

७७ विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति ८४।

७८ जया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छई।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली॥ —दशवैकालिक ४।२२

७९ सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। —तत्त्वार्थसूत्र १। ३०

८० तत्त्वार्थसूत्र भाष्य १।९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इन कर्मों के क्षयोपशम से ज्ञान और दर्शन गुण प्रकट होते हैं। आगम-साहित्य में यत्र-तत्र ज्ञान के लिए "जाणइ" और दर्शन के लिए "पासइ" शब्द व्यवहृत हुआ है।

दिगम्बर आचार्यों का यह अभिमत रहा है कि बहिर्मुख उपयोग ज्ञान है और अन्तर्मुख उपयोग दर्शन है। आचार्य वीरसेन षट्खण्डागम की धवला टीका में लिखते हैं कि सामान्य-विशेषात्मक बाह्यार्थ का ग्रहण ज्ञान और तदात्मक आत्मा का ग्रहण दर्शन है। दर्शन और ज्ञान में यही अन्तर है कि दर्शन सामान्य-विशेषात्मक आत्मा का उपयोग है—स्वरूप-दर्शन है जबकि ज्ञान आत्मा से इतर प्रमेय का ग्रहण करता है। जिनका यह मन्तव्य है कि सामान्य का ग्रहण दर्शन है और विशेष का ग्रहण ज्ञान है वे प्रस्तुत मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान के मत से अनभिज्ञ हैं। सामान्य और विशेष ये दोनों पदार्थ के धर्म हैं। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व नहीं है। केवल सामान्य और केवल विशेष का ग्रहण करने वाला ज्ञान अप्रमाण है। इसी तरह विशेष-व्यतिरिक्त सामान्य का ग्रहण करने वाला दर्शन मिथ्या है।[८१] प्रस्तुत मत का प्रतिपादन करते हुये द्रव्य-संग्रह की वृत्ति में ब्रह्मदेव ने लिखा है—ज्ञान और दर्शन का दो दृष्टियों से चिन्तन करना चाहिये। तर्कदृष्टि से और सिद्धान्तदृष्टि से। दर्शन को सामान्यग्राही मानना तर्कदृष्टि से उचित है। किन्तु सिद्धान्तदृष्टि से आत्मा का सही उपयोग दर्शन है और बाह्य अर्थ का ग्रहण ज्ञान है। व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान और दर्शन में भिन्नता है, पर—नैश्चयिक दृष्टि से ज्ञान और दर्शन में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है।[८२]

सामान्य और विशेष के आधार से ज्ञान और दर्शन का जो भेद किया गया है, उसका निराकरण अन्य प्रकार से भी किया गया है। यहां अन्य दार्शनिकों को समझाने के लिए सामान्य और विशेष का प्रयोग किया गया है। किन्तु जो जैन तत्त्वज्ञान के ज्ञाता हैं उनके लिए आगमिक व्याख्यान ही ग्राह्य है। शास्त्रीय परम्परा के अनुसार आत्मा और इतर का भेद ही वस्तुतः सारपूर्ण है।[८३]

उपर्युक्त विचारधारा को मानने वाले आचार्यों की संख्या अधिक नहीं है। अधिकांशतः दार्शनिक आचार्यों ने साकार और अनाकार के भेद को स्वीकार किया है। दर्शन को सामान्यग्राही मानने का तात्पर्य इतना ही है कि उस उपयोग में सामान्य धर्म प्रतिबिम्बित होता है और ज्ञानोपयोग में विशेष धर्म झलकता है। वस्तु में दोनों धर्म हैं पर उपयोग किसी एक धर्म को ही मुख्य रूप से ग्रहण कर पाता है। उपयोग में सामान्य और विशेष का भेद होता है किन्तु वस्तु में नहीं।

काल की दृष्टि से दर्शन और ज्ञान का क्या सम्बन्ध है? जरा इस प्रश्न पर भी चिन्तन करना आवश्यक है। छद्मस्थों के लिए सभी आचार्यों का एकमत है कि छद्मस्थों को दर्शन और ज्ञान क्रमशः होता है, युगपद् नहीं। केवली में दर्शन और ज्ञान का उपयोग किस प्रकार होता है? इस सम्बन्ध में आचार्यों के तीन मत हैं—प्रथम मत के अनुसार दर्शन और ज्ञान क्रमशः होते हैं। द्वितीय मान्यता के अनुसार दर्शन और ज्ञान युगपद् होते हैं। तृतीय मान्यतानुसार ज्ञान और दर्शन में अभेद है अर्थात्—दोनों एक हैं।

---

८१ षट्खण्डागम, धवला वृत्ति १।१।४
८२ द्रव्यसंग्रह वृत्ति गा० ४४
८३ द्रव्यसंग्रह वृत्ति ४४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रज्ञापना में एक संवाद है। गौतम भगवान् से पूछते हैं—हे भगवन् ! केवली आकार, हेतु, उपमा, दृष्टान्त, वर्ण, संस्थान, प्रमाण और प्रत्यावतारों के द्वारा इस रत्नप्रभा पृथ्वी को जिस समय जानता है उस समय देखता नहीं है और जिस समय देखता है उस समय जानता है ?

भगवान्—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

गौतम—हे भगवन् ! केवली आकार आदि के द्वारा इस रत्नप्रभा पृथ्वी को जिस समय जानता है उस समय देखता नहीं है, और जिस समय देखता है उस समय जानता नहीं है। इसका क्या कारण ?

भगवान्—हे गौतम ! उसका ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है। अतः वह जिस समय जानता है उस समय देखता नहीं है और जिस समय देखता है उस समय जानता नहीं है। इस प्रकार अधः सप्तमी पृथ्वी तक, सौधर्म कल्प से लेकर ईषत्प्राग्भार पृथ्वी तक तथा परमाणु पुद्गल से अनन्तप्रदेश स्कंध तक जानने का और देखने का क्रम समझना चाहिए।[८४]

आवश्यक निर्युक्ति[८५] विशेषावश्यक भाष्य[८६] आदि में भी कहा गया है कि केवली के भी दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते। श्वेताम्बर परम्परा के आगम इस सम्बन्ध में एक मत हैं। वे केवली के दर्शन और ज्ञान को युगपद् नहीं मानते।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवलदर्शन और केवलज्ञान युगपद् होते हैं। इस विषय में सभी दिगम्बर आचार्य एकमत हैं।[८७] उमास्वाति का भी यही मत रहा है कि मति, श्रुत आदि में उपयोग क्रम से होता है युगपद् नहीं। केवली में दर्शन और ज्ञानात्मक उपयोग प्रत्येक क्षण में युगपद् होता है।[८८] नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट लिखा है कि जैसे सूर्य में प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं उसी प्रकार केवली में दर्शन और ज्ञान एक साथ रहते हैं।[८९]

तीसरी परम्परा चतुर्थ शताब्दी के महान् दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की है। उन्होंने सन्मति-प्रकरण में लिखा है कि मनःपर्याय तक तो ज्ञान और दर्शन का भेद सिद्ध कर सकते हैं किन्तु केवलज्ञान और केवलदर्शन में भेद सिद्ध करना सम्भव नहीं है।[९०] दर्शनावरण और ज्ञानावरण का युगपद् क्षय होता है। उस क्षय से होने वाले उपयोग में "यह प्रथम होता है, यह बाद में होता है" इस प्रकार का भेद किस प्रकार किया जा सकता है। कैवल्य की प्राप्ति जिस समय होती है उस समय सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का क्षय होता है। उसके पश्चात् ज्ञानावरण,

---

८४ प्रज्ञापना पद ३०। सू ३१९। पृ० ५३१

८५ आवश्यक निर्युक्ति गा० ९७७-९७९

८६ विशेषावश्यक भाष्य

८७ (क) गोम्मटसार जीवकाण्ड ७३०
(ख) द्रव्यसंग्रह ४४

८८ मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपद्। सम्भिन्न ज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपद्······भवति। —तत्वार्थसूत्र भाष्य १।३१

८९ नियमसार १५९

९० मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं॥
—सन्मतिप्रकरण २।३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शनावरण और अन्तराय का युगपद् क्षय होता है। जब दर्शनावरण और ज्ञानावरण दोनों के क्षय में काल का भेद नहीं होता है तब यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रथम केवलदर्शन होता है फिर केवलज्ञान। इस समस्या के समाधान के लिए कोई यह माने कि दोनों का युगपद् सद्भाव है तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि एक साथ दो उपयोग नहीं हो सकते। इस समस्या का सबसे सरल व तर्कसंगत समाधान यह है कि केवली अवस्था में दर्शन और ज्ञान में भेद नहीं होता। दर्शन और ज्ञान को पृथक्-पृथक् मानने से एक समस्या और उत्पन्न होती है। यदि केवली एक ही क्षण में सभी कुछ जान लेता है तो उसे सदा के लिए सब कुछ जानते रहना चाहिए। यदि उसका ज्ञान सदा पूर्ण नहीं है तो वह सर्वज्ञ कैसे?[९१] यदि उसका ज्ञान सदैव पूर्ण है तो क्रम और अक्रम का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वह सदा एक रूप है। वहाँ पर दर्शन और ज्ञान में किसी भी प्रकार का कोई अन्तर नहीं है। ज्ञान सविकल्प है और दर्शन निर्विकल्प है। इस प्रकार का भेद आवरण रूप कर्म के क्षय के पश्चात् नहीं रहता।[९२] जहाँ पर उपयोग की अपूर्णता है वहीं पर सविकल्प और निर्विकल्प का भेद होता है, पूर्ण उपयोग होने पर किसी भी प्रकार का भेद नहीं होता। एक समस्या और वह यह है कि ज्ञान हमेशा दर्शनपूर्वक होता है किन्तु दर्शन ज्ञानपूर्वक नहीं होता।[९३] केवली को जब एक बार सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है तब फिर दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि दर्शन ज्ञानपूर्वक नहीं होता, एतदर्थ ज्ञान और दर्शन का क्रमभाव नहीं घट सकता।

दिगम्बर परम्परा में केवल युगपद् पक्ष ही मान्य रहा है। श्वेताम्बर परम्परा में इसकी क्रम, युगपद् और अभेद ये तीन धारायें बनीं। इन तीनों धाराओं का विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के महान् तार्किक यशोविजय जी ने नयदृष्टि से समन्वय किया है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से क्रमिक पक्ष संगत है। यह दृष्टि वर्तमान समय को ग्रहण करती है। प्रथम समय का ज्ञान कारण है और द्वितीय समय का दर्शन उसका कार्य है। ज्ञान और दर्शन में कारण और कार्य का क्रम है। व्यवहारनय भेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से युगपत् पक्ष भी संगत है। संग्रहनय अभेद-स्पर्शी है। उसकी दृष्टि से अभेद पक्ष भी संगत है। तर्कदृष्टि से देखने पर इन तीन धाराओं में अभेद पक्ष अधिक युक्तिसंगत लगता है।

दूसरा दृष्टिकोण आगमिक है, उसका प्रतिपादन स्वभावस्पर्शी है। प्रथम समय में भिन्नतागत अभिन्नता को जानना स्वभावसिद्ध है। ज्ञान का स्वभाव ही इस प्रकार है। भेद में अभेद और अभेद में भेद समाया हुआ है। तथापि भेदप्रधान और अभेदप्रधान दर्शन का समय एक नहीं है।

उपसंहार

इस प्रकार आगमयुग से लेकर दार्शनिक युग तक ज्ञानवाद पर गहराई से चिन्तन किया गया है। यदि उस पर विस्तार के साथ लिखा जाय तो एक विराट्काय स्वतन्त्र ग्रंथ तैयार हो सकता है, पर संक्षेप में ही प्रस्तुत निबन्ध में प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रबुद्ध पाठकों को यह परिज्ञात हो सके कि जैन दार्शनिकों ने ज्ञानवाद पर कितने स्पष्ट विचार प्रस्तुत किये हैं।

---

९१ सन्मति प्रकरण १।१०
९२ सन्मति प्रकरण २।२२
९३ ज्ञानबिन्दु

☆

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org